विषय-सूची

—:※:—

अ

अपनी बात

'भाषा विज्ञान तत्व' का जन्म अध्यापिका सुश्री 'कुसुम' के
अध्यापन का परिणाम है। आरम्भ में, सुश्री 'कुसुम' को पढ़ाने
के सम्बन्ध में ही भाषा विज्ञान के कुछ आवश्यक विषयों का
पाठ्य-ग्रन्थों के आधार पर, संक्षिप्त व सरल नोट्स के रूप में
संकलन अंकन किया गया था। जिस समय ये नोट्स लिये जा
रहे थे—कौन जानता था कि इन्हें एक स्वतन्त्र पुस्तक का भी
रूप मिल सकेगा। साहित्यरत्न और एम० ए० के भाषा विज्ञान
के पाठ्य-ग्रन्थों के अध्ययन में विद्यार्थी को जो असुविधाएं और
अड़चनें होती हैं उनका अनुभव करके ही हमने भाषा-विज्ञान
के आवश्यक स्थलों को संक्षिप्त करके सरलता से 'भाषा-विज्ञान
तत्व' के नाम से परीक्षार्थियों के लाभार्थ प्रस्तुत कर दिया है।
प्रस्तुत पुस्तक में, अनावश्यक उदाहरण व ऊहात्मक शैली जो
प्रारम्भिक विद्यार्थी के लिये कठिनाई खड़ी कर देते हैं, नहीं हैं।
जहां तक हम से बन सका है, हमने प्रस्तुत पुस्तक के विषय
और पारिभाषिक शब्द पाठ्य-ग्रन्थों के अनुसार ही रखने की
चेष्टा की है। साथ ही भाषाविज्ञान सम्बन्धी अन्य उपलब्ध
ग्रन्थों के सिद्धान्तों का भी समन्वयात्म उपयोग किया है। इससे
आशा है, पुस्तक कुछ उपयोगी बन गई होगी, और भाषाविज्ञान
के विद्यार्थी को अपने पाठ्य-ग्रन्थों के समझने में पूर्ण सहायक
सिद्ध होगी। इतना ही नहीं 'तत्व' के पाठक परीक्षार्थी परीक्षोप-
योगी आवश्यक प्रश्नों को भी सरलता से हल कर सकने में
समर्थ हो सकेंगे ऐसा हमारा अपना दृढ़ विश्वास है।

'भाषा-विज्ञान-तत्व' की प्रतिपादन शैली सम्भव है कुछ बदली हुई सी भासित हो, परन्तु फिर भी पाठ्य-ग्रन्थों के विषय में कठिनाई उत्पन्न करने वाली नहीं है इससे छात्रों को पाठ्य-ग्रन्थ समझने में किसी प्रकार की कोई अड़चन होने की आशंका बिल्कुल नहीं होनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त 'तत्व' में आवश्यकतानुसार मानचित्र देकर संसार के व भारत के भाषा समुदाय, मण्डल (चक्र) व कुल प्रदर्शित किये गए हैं कि जिनसे विद्यार्थियों को सरलता से भाषा परिवार सम्बन्धी उलझे हुए विषय का सरलतापूर्वक स्थायी ज्ञान हो सकना विवाद रहित है।

अन्त में हम उन महानुभावों के प्रति परम विनीत भाव से कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्तव्य समझते हैं, जिनके ग्रन्थों से हमने विषय संकलन करके लाभ उठाया है। यदि यह पुस्तक छात्रों के लिये उपयोगी व लाभदायक सिद्ध होगी तो हम अपना प्रयास सफल समझेंगे।

दिनाङ्क १-१-५०] सहृदय

भाषा विज्ञान तत्त्व

(अ)

भगवान् की सृष्टि में बड़े-बड़े रहस्य भरे पड़े हैं। मनुष्य स्वयं एक रहस्य है। उसकी वाक्-शक्ति शेष सृष्टि से भिन्न व अधिक विकसित होने के कारण वह भी एक रहस्य है, और स्वतन्त्र विचार का विषय बन जाती है। इसी वाक्-शक्ति के विषय में विवेचना करने वाला साधन 'भाषाविज्ञान' कहलाता है। भाषाविज्ञान वास्तव में भाषा के जीवन-सूत्र का पता लगाकर उसके विकास व ह्रास पर प्रकाश डालता है। भाषा-विज्ञान बतलाता है कि भाषा में वर्ण किस प्रकार आते हैं, कैसे वे नष्ट हो जाते हैं, कैसे संज्ञाएँ, क्रियाएँ व विभक्तियाँ विकसित होती हैं, कैसे अर्थ में विस्तार होता है एवं कैसे लोप। एक भाषा समय पाकर कई भाषाओं या बोलियों में कैसे बदल जाती है अथवा भाव कैसे बदलते रहते हैं—उनका—उनकी वाहक भाषा के स्वरूप पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है आदि-आदि सारे विषय जिस साधन के द्वारा अवगत होते हैं वह साधनविशेष ही 'भाषाविज्ञान' कहलाता है। संक्षेप में कह सकते हैं किसी भाषा की उत्पत्ति, विकास व बनावट के नियम बनाने वाले व कारण खोजने वाले शास्त्र का नाम ही 'भाषा-विज्ञान' है।

भाषाविज्ञान और व्याकरण

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि किसी भाषा के विषय में नियमन करने वाला तो 'व्याकरण' भी है; फिर उसमें और भाषाविज्ञान में क्या अन्तर, अथवा क्या साम्य-वैषम्य है ?

बात यही है कि प्रथम तो व्याकरण किसी भाषा के वर्त्तमान रूप का ही विवेचन करता है, उसके जीवनसूत्र की खोज नहीं; और न उसके विकास-ह्रास सम्बन्धी नियमों पर ही प्रकाश डालता है। व्याकरण-शास्त्र एक अति प्राचीन शास्त्र है, उसमें भाषाविज्ञान के तत्वों का इतना अधिक समावेश रहता है कि क्या भारत और क्या पश्चिम ने उसे विज्ञान व शास्त्र दोनों ही का पद दे दिया है। आधुनिक काल में प० स्वीट (एक अंग्रेज़ विद्वान्) ने तक व्याकरण को कला और विज्ञान दोनों माना है। अतः व्याकरण व भाषा-विज्ञान के कार्य-क्षेत्र को अलग-अलग कर देना आवश्यक हो गया है, ताकि आगे भ्रम होने की सम्भावना ही न रह जाय।

व्याकरण से केवल उस कला का बोध होता है जो भाषा और उसके शब्दों की शुद्धि व अशुद्धि का विचार करती है और जबकि भाषा की वैज्ञानिक व्याख्या करना केवल भाषाविज्ञान का ही विषय होजाता है। इसी से अब वर्णनात्मक व्याकरण ही व्याकरण समझा जाता है, और व्याख्यात्मक व्याकरण की परिगणना भाषाविज्ञान की सीमा में होती है। व्याख्यात्मक व्याकरण अथवा भाषाविज्ञान के तीन भिन्न-भिन्न क्षेत्र हैं:—

क—ऐतिहासिक

ख—तुलनात्मक

और ग—सामान्य

ऐतिहासिक व्याकरण भाषाओं के पूर्व रूपों की खोज करता है। तुलनात्मक व्याकरण सजातीय भाषाओं की तुलना करता है और सामान्य व्याकरण सभी भाषाओं में साधारण नियमों की खोज व तुलना करता है। पर इन तीनों का आधार है वर्णनात्मक व्याकरण ही। इस प्रकार विवेचन करने पर अब कह सकते हैं कि व्याकरण कला है, भाषाविज्ञान विज्ञान। व्याकरण का क्षेत्र संकुचित है, विज्ञान का व्यापक। व्याकरण वर्णनप्रधान है, भाषाविज्ञान व्याख्याप्रधान। व्याकरण 'क्या' का उत्तर देता है और भाषाविज्ञान 'क्यों' और 'कैसे' दोनों का।

भाषा और भाषा विज्ञान

भाषा वह साधन है जिसके द्वारा हम अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट करते हैं। विचार प्रकट करने का कार्य जिस प्रकार से भी सम्पन्न किया जाता है, वही प्रकार भाषा कहला सकता है। भाषा की इसी व्यापक परिभाषा के आधार पर भाषा के दो अर्थ होगये हैं—व्यापक और संकुचित। भाषा के व्यापक अर्थ से उन सब साधनों का ज्ञान होता है जिनके द्वारा मनके भाव प्रकट किये जासकते हैं। पर भाषाविज्ञान में इन सब साधनों के लिये कोई स्थान नहीं। भाषा-विज्ञान तो भाषा के संकुचित रूप को ही लेकर चलता है, क्यों कि सार्थक ध्वनिसमूह—जो संकुचित अर्थ वाली भाषा का आधार है—वही भाषा-विज्ञान के विचार का विषय बनता है। भाषा के व्यापक अर्थ में तो इङ्गित, चित्र तथा अन्य कई साधन, जिनके द्वारा मनुष्य अपने भाव प्रकट करके विचार-विनिमय कर लेता है; आजाते हैं; पर भाषा-विज्ञान से इन साधानों का कोई सम्बन्ध नहीं है। भाषा-विज्ञान तो सार्थक शब्द-समूह वाले भाषा के स्वरूप पर विचार करता है, और भाषा का यह स्वरूप संकुचित स्वरूप है।

भाषा विज्ञान और कला

जिस भाषा-विज्ञान का भाषा के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह कला की कोटि में आता है या विज्ञान की कोटि में, यह विचार भी स्वभावतः ही उठता है। इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि ज्ञान दो प्रकार का होता है:—

क—स्वतःसिद्ध (यह प्राणिमात्र में होता है)
और ख—बुद्धिग्राह्य (यह मनुष्य में ही होता है)

बुद्धिग्राह्य ज्ञान के दो भेद हैं:—

क—कला
और ख—विज्ञान।

कला और विज्ञान का मोटा अन्तर यह है कि कला परिवर्त्तनशील व देशकालानुसारिणी होती है, जबकि विज्ञान शाश्वत होता है। भाषाविज्ञान के भी कुछ तत्त्व अटल हैं, अतः वह विज्ञानकोटि की ही वस्तु है, कलाकोटि की नहीं। कला और विज्ञान का दूसरा मोटा अन्तर यह भी है कि कला मनुष्यकृत होती है एवं विज्ञान ईश्वरकृत। अतः स्पष्ट है कि भाषाविज्ञान कला नहीं, विज्ञान ही है। कला में देश-काल के प्रभाव से परिवर्त्तन हो जाता है; यथा:—चीन की चित्रकला, बंगाल की चित्रकला से भिन्न है। इंगलैण्ड की संगीतकला भारत की संगीत कला से भिन्न है। परन्तु, १ + १ = २ यह गणित का सिद्धांत सभी काल व सभी देशों में सदा से ही इसी परिणाम को दे रहा है, और देता रहेगा। इस नियम में जो शाश्वतता है वही विज्ञान का मूल है। भाषाविज्ञान में भी, जैसा ऊपर कहा है कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो सदा सब काल में एक से ही रहते हैं—इनमें कभी परिवर्त्तन नहीं होता, अतः भाषा-विज्ञान विज्ञान ही है, कला नहीं।

भाषाविज्ञान का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

भाषाविज्ञान का अन्य शास्त्रों से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। विचार का सम्बन्ध ज्ञान से है, और भाषाविज्ञान का विचार से। अतः भाषाविज्ञान का सम्बन्ध अन्य सभी विचारों या विज्ञानों से हो जाता है। सर्वप्रथम भाषा विज्ञान का सम्बन्ध **मनोविज्ञान** शास्त्र से है, क्योंकि मनोविज्ञान ही भाषा-विज्ञान को यह बतलाता है कि किस प्रकार मस्तिष्क में विचार उठता है, किस प्रकार सुरक्षित रहता है. कैसे बदल जाता है आदि।

फिर भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध **तर्क शास्त्र** से भी है; परन्तु तर्क शास्त्र से उतना सम्बन्ध नहीं जितना अन्य शास्त्रों से। क्योंकि तर्क शास्त्र के आधार पर तो भाषाविज्ञान को यही ज्ञात होता है कि कोई अर्थविशेष से सामान्य और सामान्य से विशेष क्योंकर बन जाता है।

भाषाविज्ञान का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य सम्बन्ध समाज-शास्त्र से है। **समाज-शास्त्र** का भाषाविज्ञान एक प्रकार से दास है। बात भी ठीक ही है, क्योंकि समाज विचारों का क्षेत्र है। कैसे एक भारतीय नारी पति का नाम नहीं लेती, टट्टी को पाखाना; मरने को स्वर्गारोहण, देवलोकयात्रा; दिया बुझने को दिया बढ़ गया क्यों कहते हैं; एक शब्द को अच्छे और बुरे दो-दो अर्थों में क्यों प्रयुक्त किया जाता है? इन सब बातों का उत्तर भाषाविज्ञान को समाजशास्त्र से ही प्राप्त होता है।

भाषाविज्ञान का **शरीर शास्त्र** से भी सम्बन्ध है। शरीर शास्त्र द्वारा उच्चारण व ध्वनि सम्बन्धी प्रश्न हल किया जाता है कि जो भाषाविज्ञान का एक प्रमुख विषय है।

भूगोल शास्त्र द्वारा भाषाविज्ञान को शब्दों के उच्चारण के अन्तर का ज्ञान होता है। **इतिहास** के द्वारा भाषाविज्ञान को

यह पता चलता है कि कब कौन भाषा कैसे-कहाँ पनपी, कब कहाँ क्या संस्कृति थी और उसका भाषा पर कैसा प्रभाव पड़ा।

साहित्य और भाषाविज्ञान का तो चोली-दामन का-सा सम्बध है। साहित्य के मैदान में भाषाविज्ञान क्रीड़ा करता है। भाषाविज्ञान को विचार के लिये शब्द साहित्य के ही कोष में मिलते हैं।

व्याकरण का तो भाषाविज्ञान से घनिष्ट सम्बन्ध है। व्याकरण कुछ शब्दध्वनियां एकत्रित करके भाषा-विज्ञान को देता है। इन शब्दों व ध्वनियों पर भाषाविज्ञान विवेचना करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भाषा-विज्ञान उपर्युक्त सभी मानव शास्त्रों से सम्बन्ध रखता है और इन सब की सहायता से भाषाविज्ञान के, एवं भाषाविज्ञान की सहायता से इन सभी शास्त्रों के अध्ययन में सुविधा व सुकरता होती है।

भाषा की उत्पत्ति के सिद्धान्त

भाषा की उत्पत्ति व उद्गम के सम्बन्ध में कई वाद प्रचलित हैं। सर्वप्रथम दिव्यउत्पत्तिवाद है। आस्तिक लोगों का विश्वास है कि ईश्वर से भाषा की सृष्टि हुई है। ईश्वर ने वेद रूप से ऋषियों को भाषा प्रदान की, पीछे बापसे बेटे और पोते ने सीखी। बौद्ध, ईसाई, यहूदी आदि सभी अपनी-अपनी धर्म-पुस्तकों के द्वारा इसी मत का समर्थन करते हैं। उनका मत है ईश्वर ने सर्वप्रथम भाषा को जन्म दिया और वह वेदों ही की भाँति उनको अपनी धर्म-पुस्तकों से उन्हें प्राप्त हुई है। परन्तु नास्तिक लोग जिनका ईश्वर की सत्ता में कोई विश्वास नहीं, मानते हैकि भाषा मनुष्य गर्भ से ही सीखकर आता है। नास्तिकों के इस मत का, परन्तु प्रत्यक्ष रूप में एक बालक पर परीक्षण करने से विरोध होगया। एक बालक को जन्म से ही अलग रख कर

पाला गया। जब वह बड़ा हुआ तो उसे भाषा सम्बन्धी कोई भी ज्ञान ही न था। वह केवल 'हूं' का उच्चारण ही कर सकता था। इस 'हूँ' का ज्ञान उसे उस मनुष्य की संगति से हुआ था जो उसे नित्य रोटी देने जाया करता था और 'हूँ' कह कर उसे अपनी ओर आकृष्ट किया करता था। इससे सिद्ध होगया है कि मनुष्य यदि किसीके सम्पर्क में नहीं आता तो कोई भाषा नहीं बोल सकता। इस परीक्षण के कारण एक तीसरा मत और चला और वह यह है कि आरम्भ में मनुष्यों ने मिल कर भाषा का निर्माण किया। पर यह सिद्धान्त भी इस कारण नहीं टिक सकता कि आरम्भ में मनुष्यों ने मिल कर भाषा सबन्धी प्रस्ताव समर्थनादि किस भाषा में किये होंगे, जब कि ध्वनि के कोई व्यक्त चिह्न ही नहीं थे।

इस प्रकार जब ये तीन सिद्धान्त या वाद समाप्त हो गये तब एक चौथा मत और चला। इस मत के अनुसार मनुष्यों ने आस-पास की प्रकृति से, पशु पक्षियों के शब्द-संकेतों से भाषा सीखी ऐसा माना जाता है। बिल्ली को 'म्याऊँ' करते देख मनुष्य ने उस का नाम 'म्याऊ' ही रखलिया। पत्ते को वृक्ष से गिरता देख उसके गिरने की ध्वनि 'पट' के आधार पर 'पत'या 'पत्र' और फिर 'पत्ता' कहना शुरु कर दिया। इस सिद्धान्त को लोगों ने अनुकरणमूलकतावाद नाम दिया, किन्तु ऐसे शब्द अन्य भाषाओं में नहीं मिलते। 'अथ बस्कन' भाषा इस कथन का उदाहरण है। इस प्रकार यह सिद्धान्त भी पंगु बनाया गया। ऐसी दशा में पांचवा सिद्धान्त विस्मयादि बोधकतावाद के नाम से उपस्थित हुआ। इस वाद के अनुसार जब मनुष्य अत्यन्त प्रसन्न या दुखी होता है तो उसके मुख से कुछ विशेष भावों को प्रकट करने वाली ध्वनियाँ निकल पड़ती हैं यथा—छिः-छिः,

*अथबस्कन— अमेरिका प्रदेश के मैक्सिको प्रान्त की एक भाषा है।

धत, ओह, अरे इत्यादि; और इन्हीं से फिर भाषा का भी निर्माण मान लिया जाता है। परन्तु इस प्रकार के शब्द भाषा में बहुत ही कम हैं, तब सभी भाषा का निर्माण इनसे कैसे संभव हो सकता है। इस आपत्ति के साथ इस वाद का भी अन्त हो जाता है। इस कारण आज भाषाविज्ञानी अभी जंगलों में, बालकों में, पशु-पक्षियों में व प्रकृति में भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध की खोज में व्यस्त हैं, और इसीलिये चूँकि अभी भाषा के उद्गम के सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त निर्णीत नहीं होता, दिव्य उत्पत्तिवाद की शरण लेकर ही शान्ति लेना उचित प्रतीत होता है।

पश्चिम में पं० स्वीट ने भाषा के उद्गम के विषय में दो-तीन वादों को मिलाकर एक 'समन्वितवाद' स्थिर किया है। इस वाद पर लगभग आधुनिक भाषाविज्ञानी सभी सहमत हो गये हैं। समन्वितवाद के अनुसार भाषा अनुकरणात्मक, भावाभिव्यजनात्मक व प्रतीकात्मक तीनों प्रकार के शब्दों के समन्वय से उत्पन्न हुई है। इस समन्वय में जो तीन वाद हैं उनमें से दो का परिचय ऊपर मिल चुका है। तीसरा है प्रतीकवाद। प्रतीकवाद से शारीरिक क्रियाओं के प्रतीकों से तात्पर्य होता है। यथा लैटिन भाषा का 'बिबेक' संस्कृत का 'पिबति' और हिन्दी का 'पीना' इन सभी शब्दों के उच्चारण में ओष्ठपुट की चेष्टा एक सी ही होती है। इसी चेष्टा को प्रतीक बनाकर 'पीने' के भाव को व्यक्त किया गया है। जहां ये तीनों ही वाद एक साथ भाषा के उद्गम के हेतु माने जायँ वहीं समन्वितवाद का स्वरूप सिद्ध होजाता है। यही आजकल सर्वमान्य सिद्धान्त है।

भाषा-विकास के मूल कारण

प्रत्येक क्षण ऐहिक (संसारी) वस्तु में परिवर्तन होता रहता है। कोई वस्तु स्थिर नहीं। यही भारतीय क्षणिकवाद का अटल सिद्धान्त है। भाषा भी इस भाँति परिवर्तनशील है।

क्या ध्वनि, क्या पद, क्या वाक्य सभी में परिवर्तन होता रहता है। भाषा की देशकाल के अनुसार जिस अनेक रूपता का हमें अनुभव होता है, वह भाषा की परिवर्तनशीलता की साक्षी दे रही है। आदित्यवार विकसित होकर 'इतवार' हो गया है, और 'एकादश' 'ग्यारह', 'द्वादश' से 'बारह', एवं अलावु से 'आल' तथा लौकी आदि शब्दों का विकास हुआ है। भाषा के इस परिवर्तन के कारण भाषा ही में उपस्थित रहते हैं। उसे हम परम्परा से सीखते हैं, इस कारण यह निश्चित ही है कि ठीक वैसी ही, जैसी वह किसी अन्य के पास होती है, हम उसे ग्रहण नहीं कर पाते। वैज्ञानिक रीति से देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि कोई दो व्यक्ति बिलकुल एक तरह की भाषा नहीं बोल सकते। उच्चारण के साथ ही अर्थ सम्बन्धी भिन्नता भी स्वाभाविक है। क्योंकि अर्थ अनुभवजन्य है, और अनुभव व्यक्तिगत भिन्नता पर निर्भर रहता है। इसीसे भाषा में परिवर्तन होना अनिवार्य हो जाता है। इस परिवर्तन का उदाहरण है बालक के 'लेपाना' के बदले पर 'पापाना'। जब बालक ऐसा बोलता है, उसके मां-बाप तुरन्त उसे टोकते हैं और बताते हैं— 'पा सकना' बोलो। इसी प्रकार बालक का 'लड्डू' 'घली' और 'छात' शब्दों को बड़े भाई बहन बतलाते हैं:—'लड्डू' 'घड़ी' व 'सात' बोला करो भैया। इस प्रकार भाषा में कुछ अंशों में परिवर्तन होता रहता है, और कुछ अंशों में नहीं। यह विकास गति और स्थिति के विचित्र संमिश्रण के रूप की तरह होता रहता है। भाषा-विज्ञानियों ने इस विकास के मूल कारण भी ढूढने का प्रयत्न किया है। वे मूल कारण पहले दो प्रकारके होते हैं:-साक्षात और असाक्षात। पुनः ये चार प्रकारके हैं।

१—असाक्षात	क—शारीरिक भिन्नतावाद ख—भौगोलिक भिन्नतावाद ग—जातीय मानसिक अवस्था भेद
२—साक्षात	घ—प्रयत्न लाघव या प्रयत्न शैथिल्य, विभाषा साहाय्य।

(१) प्रथम वाद के अनुसार शरीर-भेद के कारण भाषामें भेद होना माना जाता है। यह वाद परीक्षा की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। यह नित्य देखा जाता है कि एक ही समुदाय में बड़े क़द के भी आदमी होते हैं, और छोटे क़द के भी। मोटे भी और पतले दुबले भी। बड़े सिर वाले भी और छोटे सिर के भी। पर इन की इस शारीरिक भिन्नता के कारण समुदाय की भाषा में विभिन्नता नहीं आती। (२) द्वितीय भौगोलिक भिन्नतावाद के अनुसार कुछ लोगों का कथन है कि भाषा में भिन्नता आ जाती है। ठण्डे देशों के निवासियों को जाड़े के कारण मुंह ढके रहना पड़ता है। मैदानी लोगों की भांति वे अधिक मुख नहीं खोल सकते हैं। यही कारण है कि एक प्रकार की भौगोलिक स्थिति वाले प्रदेश की भाषा दूसरे प्रकार के प्रदेश की भाषा से भिन्न होती है। परन्तु यह वाद तर्क पर सही नहीं उतरता। इसका कारण यह है कि भाषा जब एक बार प्रवाह में पड़ जाती है तो भौगोलिक परिस्थिति उसके बनाने या बिगाड़ने में सहायक या बाधक नहीं होती। (३) इसी प्रकार कुछ लोगों का विचार है कि जातीय मानसिक अवस्था भेद के कारण भी भाषा में परिवर्तन होता है, क्योंकि किसी-किसी जाति की मानसिक अवस्था दूसरी जाति की मानसिक अवस्था से ऊंची या नीची होती है, और इसी कारण भाषा में भेद उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए जर्मन विद्वानों का यह मत है कि उनकी भाषा में एक सौष्ठव और गति है जो अंग्रेजी आदि भाषाओं में नहीं है, और उनकी राय से

भाषा का यह सौष्ठव और गति उनकी जातीय मानसिक गति और सौष्ठव के कारण है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। यही बात प्रत्येक जाति अपनी-अपनी भाषा के विषय में कह सकती है। (७) अंत में चतुर्थ वाद प्रयत्नलाघव आता है। प्रयत्न-लाघव एक प्रकार से मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये कम से कम प्रयत्न करना अधिक पसंद करता है। यदि एक ही स्थान पर पहुंचने के लिये दो मार्ग हों तो बाधाओं की परवाह न कर मनुष्य छोटे या शीघ्र पहुंचाने वाले मार्ग को ही अपनाने की चेष्टा करता है। मनुष्य की इस प्रवृत्ति में उसकी समय बचाने की भावना है। प्रयत्न लाघव में भी यही मूल प्रवृत्ति काम करती है। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह होता है कि भाषा के वे अंश जो बहुधा प्रयोग में आते हैं, उनका मूल अंश तो रह जाता है किन्तु, शरीर विकल हो-जाता है। अभिवादन के शब्द, व्यक्तियों के नाम, सर्वनाम, बहु-व्यवहृत अव्यय इत्यादि में पर्याप्त विकार होने पर भी मूल शब्द की स्थिति रहती ही है। इसका कारण यही है कि बहुव्यवहार के कारण इनका अस्तित्व मस्तिष्क में निश्चित स्थान प्राप्त कर लेता है, पर प्रयोग की अधिकता के कारण इनके आंशिक उच्चारण से ही काम चल जाता है। यथा 'वीरेन्द्र' से 'वीरेन', 'धीरेन्द्र' से 'धीरेन' 'रामेश्वर' से 'रामेसुर' 'गोपीकृष्ण' से 'गोपीकिशुन'। इसके अतिरिक्त स्वराघात और बलातिरेक से भी भाषा-परिवर्तन हो जाता है। इसके मूल में भी सुविधाजन्य लाघव ही है। बड़े-बड़े शब्दों के पूरे रूप का उच्चारण न करके उनके आदि के अक्षरों अथवा समस्त शब्द के प्रथम पद को ही बोल कर काम निकाल-ना भी प्रयत्न लाघव के सिद्धान्त का ही उदाहरण है। बोलते समय प्रयत्नलाघव की दृष्टि से मन बहुधा आगे की ध्वनियों पर दौड़ जाता है, और इस के कारण तरह-तरह के ध्वनि

विपर्यय भाषा में आ जाते हैं। सामान्य रीति से नीचे लिखे विकार-प्रकार देखे गये हैं :—

क—परस्पर विनिमय यथा—	लखनऊ का नखलऊ डूबना का बूड़ना अमरूद का अरमूद
ख—ध्वनिलोप या अक्षर लोप—	वृथा=वृत + था जहि=जहीहि
ग—समीकरण—	पुरोगामी पश्चगामी
घ—विषमीकरण—	आदि-

इस प्रकार इस परिणाम पर पहुंचा जाता है कि संस्कृत भाषा की संधियों के प्रायः सभी नियम सुविधा अर्थात् प्रयत्नलाघव के द्वारा ही भाषा में आये होंगे ।

क्या भाषा अर्जित या परम्परागत है

'भाषा' भाषण की क्रिया के समान क्षणिक व अनित्य नहीं है। वह एक परम्परागत वस्तु है, उसकी एक धारा वहती है, जो सतत परिवर्तनशील होने पर भी स्थायी और नित्य होती है। और जिस भाषण कृत भेद की लहरें नित्य उठा करती हैं भाषा उसी ध्वनि-संकेत-संसर्ग की कृति है। धीरे-धीरे संसर्ग और अनुकरण के कारण वक्ता और श्रोता उस सम्बन्ध को स्वाभाविक समझने लगते हैं। इसीसे माना जाता है कि जब एक शब्द चल पड़ता है तब उसे लोग संसर्ग द्वारा सीखकर उसका प्रयोग करने लगते हैं। घटना और परिस्थितियों के कारण

भाषा में कुछ विकार भले ही आ जावें पर जान बूझकर वक्ता कभी परिवर्तन नहीं करता। प्रत्येक पीढ़ी नई भाषा उत्पन्न नहीं करती। अतः सिद्ध है भाषा परम्परागत सम्पत्ति है। भाषा के पारम्परिक होने से और उसकी धारा के अविच्छिन्न रहने से यह अर्थ न समझना चाहिएं कि भाषा कोई पैतृक और कुलक्रमागत वस्तु है। एक बालक अपनी मातृभाषा के समान कोई दूसरी भाषा भी सुगमता से सीख सकता है माता जो भाषा बोले उसे ही बालक सीख लेता है। यदि मां-बाप दोनों भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलें तो दोनो भाषाए बालक भी बोल सकेगा। केल्ट जाति के लोग जो फ्रान्स में रहते हैं, केल्ट भाषा नहीं बोल सकते। इस से यही सिद्ध होता है कि भाषण शक्ति को छोड़ कर भाषा का कोई ऐसा अंग नहीं जो प्राकृतिक हो और जिसका सम्बन्ध जन्म, वंश या जाति से हो। अतः भाषा अर्जित सम्पत्ति होते हुए भी व्यक्तिगत वस्तु नहीं है। भाषा की रचना समाज के द्वारा ही होती है। अर्जन और उत्पादन में अन्तर होता है, अतः भाषा का विकास होता है अर्जन नहीं।

भाषा का गठन

भाषा का लक्षण देखते हुए यदि विचार किया जाय तो ज्ञात होगा, एक मनुष्य की बोली दूसरे से भिन्न होती है। जो मनुष्य जिस प्रकार के वातावरण में रहता है उसी प्रकार की उसकी भाषा भी बन जाती है। एक पुजारी की भाषा में संस्कृत के वातावरण से प्रभावित शब्दावली का होना आवश्यक है, तो एक मौलवी की भाषा में इससे भिन्न अरबी शब्दावली का रहना स्वाभाविक होगा। इसी प्रकार गांव की बोली के विषय में समझना चाहिए। यद्यपि गांव की बोली एक होती है पर उसके एकत्व के पीछे भिन्नत्व के बीज अगोचर रूप से उपस्थित रहतेहैं। किसी ग्राम समुदाय की वाणी को बोली का नाम दिया जाता

है। उसके भीतर के कुछ सूक्ष्म भेदों की अवहेलना करने पर ही यह नाम संभव है।

अवधी की बोलियों में मध्यम पुरुष एक वचन लखीमपुर में 'तुई' है, सीतापुर में 'तुइ'। पर इसीका सम्बन्ध सूचक विशेषण लखीमपुर में 'तोर' किया है तो सीतापुरी बोली में 'त्वार' किया जाता है। बहुधा बोलियां किसी भाषा के अन्तर्गत हुआ करती हैं भाषा उन्हीं बोलियों मे से एक कोई प्रमुख बोली को कहते हैं। किसी बोली की प्रमुखता के भिन्न-भिन्न कारण होते है, जिनमें राजनैतिक प्रमुखता ही विशेष कारण है। दूसरी बात है कि साहित्यिक विशेषता से भी भाषा प्रधान रूप लेलेती है। साहित्य के अतिरिक्त किसी जनगण का प्रभाव भी भाषा को विकट बना सकता है। भाषा और बोली का अन्तर आपस में ये है कि बोली का क्षेत्र सीमित व भाषा का व्यापक है। बोली भाषा के अन्तर्गत है, भाषा बोली के अन्तर्गत नहीं। ध्वनि व ध्वनिग्राम में जो अन्तर है, वही अन्तर भाषा और बोली में भी समझ लेना चाहिये। जब किसी देश की बोली मानित (Standard) होकर भाषा का रूप धारण कर लेती है तो आस-पास की बोलियां अपनी सारी विशेषताएँ खोकर भाषा ही में मिल जाती हैं। वह लिखित न हो तब भी अशिक्षित लोगों के हृदय उसे जीवित बनाये रहते हैं। लेखबद्ध भाषा विशिष्ट भाषा है। लेखबद्ध साहित्यिक भाषा ही भाषा के विकास की एक मंजिल है। पुनः विशिष्ट भाषा साधारण व साहित्य की भाषा से परे की वस्तु है। विशिष्ट जनसमुदाय शब्दों को तोड़-मरोड़ के बोलने की पद्धति भी निकाल लेता है। और तब इसप्रकार की भाषा का रहस्यात्मक प्रभाव पड़ने लगता है। प्रश्न होता है कि व्याकरण द्वारा भाषा का जो रूप प्रतिपादित किया जाता है, क्या भाषा का यही असली रूप है?

व्याकरण भाषा का विश्लेषण कर उसे तरह-तरह के रूपों में बांट देता है। आप देखते हैं बालकों की भाषा एक-एक, दो-दो पदों से आरंभ होती है; और उनकी वाणी पदक्रम के अनुसार नहीं चलती। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि संघटित जनसमुदाय की विचारमाला में एक प्रकार की एकता होती है, लेकिन वह भाषा में भी व्यक्त हुआ करती है। यही एकता उस विचारमाला का मूल्य होती है, और इसी के आधार पर भाषा व बोली का भी निर्णय होता है।

ध्वनि-विवेक

पहले कहा जा चुका है कि भाषा मनोविकारों को व्यक्त करने वाले साधन का नाम है। किन्तु, एक दूसरे को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये इस साधन को व्यक्त रूप देने के लिये कुछ ध्वनि-संकेतों को भी काम में लिया जाता है। यही कारण है कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से सामान्य परिभाषा के अनुसार भाषा मनोविकारों को व्यक्त करने वाले ध्वनि-संकेतों का समूह मात्र है। ध्वनि शब्द में अक्षर, अक्षरों से बनने वाले भिन्न-भिन्न शब्द और शब्दों से बनने वाले वाक्य एवं वाक्यों से गठित भाषा सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। यह हुआ ध्वनि शब्द का व्यापक अर्थ। वैसे ध्वनि का अर्थ है वर्ण (अक्षर) यही अर्थ भाषाविज्ञान में विवेचनीय है।

ध्वनि का विवेचन करने के लिये सरलता की दृष्टि से ध्वनि को प्रथम दो पारिभाषिक वर्गों में बांटा जाता है:—

१—भाषण-ध्वनि
और २—ध्वनिमात्र

भाषण-ध्वनि का सम्बन्ध व्यक्तिगत उच्चारण से होता है। और जिसमें अनेक भाषण-ध्वनियां हों ऐसी एक जातिविशेष

को ध्वनिमात्र कहते हैं। अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि भाषणध्वनि का सम्बन्ध उच्चारणकर्ता (व्यक्ति) से रहता है, और ध्वनिमात्र का सामान्य ध्वनि से।

उदाहरण के लिये 'जल्दी' और 'माल्टा' इन दो शब्दों को ले लिजिए। दोनों ही में 'ल' ध्वनि का प्रयोग है, किन्तु परीक्षा करने पर ज्ञात होगा दोनों के उच्चारणों में अन्तर है। उच्चारण का अर्थ है ध्वनि। ध्वनि का सम्बन्ध है उसके निकलने के स्थान से। मनुष्य के निर्माण में ध्वनि-यंत्रों का निर्माण भगवान् ने बड़ा ही कलापूर्ण बनाया है। नाभि से दबाव खा कर फेंफड़ों से निकला हुआ वायु मुख-विवर में दबाता, रगड़ता टकराता या सीधा जब बाहर आता है, तब उससे भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियां होती हैं। यही कारण है ध्वनियों की भिन्नता में विशेष हाथ मुखविवर के स्थानविशेष का रहता है। उक्त उदाहरण में भी 'जल्दी' शब्द की 'ल' ध्वनि दांत के पास जीभ के टकराने से उत्पन्न होती है, इस लिये दन्त्य है; और दूसरे शब्द की 'ल' ध्वनि कुछ-कुछ मूर्धन्य है, क्योंकि बोलते समय 'माल्टा' शब्द की 'ल' ध्वनि जीभ के कुछ मूर्द्धा स्थान के पास लगने से होती है। वैसे सुनने में दोनों ही 'ल' ध्वनियां समान-सी प्रतीत होती हैं। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि ध्वनि मात्र तो दोनों ही उदाहरणों में 'ल' ध्वनि के नाते एक ही है; किन्तु, भाषण की विशेषता से या व्यक्ति के बोलने के अपने-अपने ढंग के कारण भाषण-ध्वनि दो हैं। और दो ही क्यों, वक्ता की अपनी विशेषता के कारण कई प्रकार की भी हो सकती हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी, मराठी, गुजराती आदि अन्य-अन्य भाषाओं में भी इस प्रकार का ध्वनि सम्बन्धी विवेक सर्वत्र उपलब्ध है। इस प्रकार अब विद्यार्थी को यह समझ में आगया होगा कि यह ध्वनि मात्र

व भाषण ध्वनि में क्या अन्तर, है और भाषाविज्ञान में इन शब्दों का पारिभाषिक प्रयोग किस-किस अर्थ में और क्यों किया जाता है।

ध्वनि-विवेक को ध्वनि-विज्ञान या ध्वनि-शिक्षा कई नामों से कहा जासकता है। ध्वनि-शिक्षा को प्रथम दो भागों में बाँटते हैं:—

१—स्थान

और २—प्रयत्न

किसी भी ध्वनि की उत्पत्ति में पहिले भीतर से आये हुए वायु को मुख-विवर के किसी स्थान से ही तो टकरा कर बाहर आना है। इसी से ध्वनि-शिक्षा में पहिले स्थान का विवेचन परम वांछनीय है। पुनः वक्ता या उच्चारणकर्ता अपने श्वास को बाहर फ़ैकने में एक प्रकार की चेष्टा करता है। इस चेष्टा विशेष को ही 'प्रयत्न' शब्द से कहा जाता है। इन स्थान-प्रयत्नों को अध्ययन कर लेने पर ही ध्वनियों का विश्लेषण व वर्गीकरण संभव हो सकता है।

साधारणतः स्थानों का संबन्ध बोल-चाल के साथ है। बोल-चाल के अङ्ग निम्नलिखित हैं:—

१—फैफड़े (जहाँ से श्वास दबाव खाकर बाहर आता है)

*२—काकल (कंठ में रहने वाले कागले का पोल का स्थान)

३—अभिकाकल (काकलाग्र)

४—ध्वनि तार (ध्वनि को उत्पन्न करने वाला स्नायु)

५—कंठ पिटक (कंठ का ढालू भाग)

६—अन्न प्रणाली का पिछला भाग 'श्वास प्रणाली'

७—कंठमार्ग

---

* काकलं हि नाम ग्रीवायामुन्नत प्रदेशः

९—घंटी (काकल का लटकता हुआ भाग)
१०—कोमल ताल (कंठ का वाहर की ओर का कोमल भाग)
११—मूर्धा (कंठ के कोमल भाग से वाहर की ओर का स्थान)
१२— तालु (मुख-विवर का मध्य या जिह्वा के ऊपर का भाग)
१३—वक्त्र (दांत व मूर्धा के बीच का भाग)
१४—दन्तमूल (दाँतों की जड़)
१५—जिह्वा (जीभ और उसके विभाग)

(क)	(ख)	(ग)	(घ)	(ङ)	(च)
जिह्वानीक	जिह्वाग्र	जिह्वोपाग्र	जिह्वामध्य	पश्चजिह्वा	जिह्वामूल

जब फेफड़े से आया हुआ वायु स्वर-तंत्री को खोलकर प्रयत्नपूर्वक बाहर आता है तब इस वायु की संज्ञा 'नाद' कह लाती है। जब यह स्वरतंत्री आपस में चिपकी नहीं रहती, खुली रहती है, उस अवस्था में बाहर आने वाले वायु को 'श्वास' कहा जाता है। नाद ध्वनि और श्वास ध्वनि दोनो में यही अन्तर है। स्वर तंत्री की स्थिति विशेष पर ही ये दो 'नाद' व 'श्वास' भेद किये जाते हैं उदाहरण:—

श्वासध्वनियाँ—ब,ग,ज,

नाद ध्वनियाँ—प,फ,स,

स्वर तो सभी नाद ध्वनियों में आते है। 'ह' हिन्दी व संस्कृत में नाद होता है, परन्तु अंग्रेजी में यह शुद्ध श्वास रहता है। हिन्दी में 'ह' वर्ण की एक विशेषता यह है कि जब यह ख, छ, ढ आदि श्वास-वर्णों के साथ आता है तो श्वासमय ही स्वयं भी होजाता है।

इस प्रकार जब हम ध्वनि के विषय में समझ लेते हैं तब ही हमें ज्ञात हो जाता है कि उच्चारण की दो प्रकार की मुख्य ध्वनियां हैं— श्वास और नाद। ध्वनि के श्वास और नाद दो भेद स्वर-तन्त्रियों की स्थिति के अनुसार किये गये हैं। इसके अतिरिक्त ध्वनि के मुख से निकलने के प्रकार के आधार पर प्राचीन काल से ही ध्वनियों के दो वर्ग और चले आ रहे हैं— स्वर और व्यंजन। स्वरध्वनि वह ध्वनि है जिसके उच्चारण में किसी प्रकार मुख में न स्पर्श होता है न घर्षण, केवल मुख-विवर में संकोच-विकासमात्र होता रहता है। पर व्यंजन ध्वनि के उच्चारण में थोड़ा-बहुत घर्षण अवश्य होता है। इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि स्वर स्वतः उच्चरित होने वाली ध्वनि का नाम है, और व्यंजन उस ध्वनि का नाम है जिसके उच्चारण में स्वर-ध्वनि का सहयोग आवश्यक एवं अनिवार्य रहता है। अब यह बात स्पष्ट है कि स्वरों के उच्चारण में श्वास अबाध गति से मुख-विवर से बाहर आता रहता है। सानुनासिक स्वरों के उच्चारण में कुछ श्वास की मात्रा नासिका छिद्र से भी बाहर आती है। स्वर व व्यंजन का स्वरूप अगले पृष्ठ पर दी हुई तालिका से और भी स्पष्ट हो जाता है·

अब यह स्पष्ट है की व्यञ्जन वह सघोष वा अघोष ध्वनि है जिसके उच्चारण में, मुख में पूर्णतया अथवा आंशिक बाधा उत्पन्न होती है। इस तरह कह सकते हैं कि स्वर सभी नाद होते हैं एवं व्यञ्जन कुछ नाद, और कुछ श्वास। इसका सामान्य नियम यह है कि एक उच्चारण-स्थान से उच्चरित होने वाले 'नाद' का प्रतिवर्ण 'श्वास' अवश्य होता है। प्रत्येक भाषा में स्वर और व्यञ्जनों की संख्या परिमित होती है। इनके संयुक्त रूप भी पाये जाते हैं।

[ध्वनि की दृष्टि से स्वर-व्यंजन का स्पष्टीकरण]

तालिका संख्या १

स्वर	व्यंजन ७			स्थान	प्रयत्न
	घर्षक (अर्धस्पृष्ट और अर्ध विवृत)	स्पर्श या स्फोटक			

अवस्था	स्थान		प्रयत्न
	काकल्य	१	
	ओष्ठ्य दन्तोष्ठ्य	२	
	दन्त्य	३	
अल्पप्राण वर्ग का १,३ महाप्राण वर्ग का २,४ सानुनासिक, वर्ग का पाचवां वर्ण	वर्त्स्य या दन्तमूलीय		घोष १ (नादमय)
	तालव्य		श्वासमय अघोष २
	मूर्धन्य	६	
	कंठ्य	७	
	कण्ठमूलीय या जह्वामूलीय	८	

स्वर ध्वनि का वर्गीकरण

संस्कृत में 'वर्ण' से स्वर और व्यंजन दोनों प्रकार की ध्वनियों का अर्थ ज्ञात होता है, पर 'अक्षर' से केवल स्वर-ध्वनि का ही बोध होता है। जिह्वा और ओष्ठों की विकृति या अवस्थाओं के कारण स्वरों में विशेषता उत्पन्न होती है। यही कारण है कि स्वरों का वर्गीकरण जिह्वा की गति-विधि के आधार पर किया जाता है। साधारणतया जिह्वा की तीन अवस्थाएँ होती हैं —

१— सबसे ऊंची और आगे की (अग्र)

२— सबसे ऊंची पीछे की (पश्च)

३— बीच की सबसे नीची (मध्य)

इन्हीं तीन अवस्थाओं के आधार पर स्वरों के अग्र, पश्च और मध्य तीन भेद होते हैं।
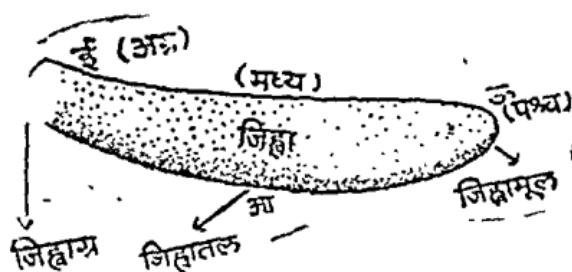
जिह्वा की उक्त तीनों अवस्थाओं में मुखविवर की भी आकृति बदलती है। मुखविवर की आकृति के अनुसार स्वरों की उच्चारण-दशाओं के निम्न प्रकार बनते हैं :—

तालिका संख्या २

१—संवृत उच्चारण की वह अवस्था है जिसमें जीभ का अग्रभाग ऊंचे से ऊंचा उठता है।

२-३— अर्द्ध संवृत और अर्द्ध विवृत जीभ की मध्यम स्थिति है।

४— विवृत मुख की खुली हुई स्थिति का नाम है। इन तीन उच्चारण दशाओं के उदाहरण क्रमशः—ऊपर, अनेक, बोतल, और आम में ऊ,ए,ओ व आ स्वर हैं।

व्यंजनो का वर्गीकरण

जैसा तालिका संख्या १ से स्पष्ट है, स्थान व प्रयत्न के आधार पर व्यजनों का वर्गीकरण किया जाता है। पहले व्यंजन स्वरयंत्र के घोष के कारण दो प्रकार के होते है– सघोष और अघोष। फिर सघोष के दो भेद हैं– पूर्ण सघोष व अपूर्ण सघोष। जहां व्यंजन के उच्चारण पर्यन्त घोष चलता रहे वहां पूर्ण सघोप व्यंजन होता है, और जहां घोष उच्चारण पर्यन्त चालू नहीं रहता वहां व्यजन अपूर्ण सघोप कहलाताहै। उदाहरणार्थ ' स ' ध्वनि ' व ' ध्वनि अंग्रेजी में अपूर्ण सघोष और हिन्दी में पूर्ण सघोष है।

उच्चारण की दृष्टि से व्यंजन के आठ भेद हैं। पिछे की तालिक में स्पष्ट उल्लेख होचुका है।

उच्चारण में एक चेष्टा होती है। इसे प्रयत्न कहते हैं। यह प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं — आभ्यन्तर और वाह्य। स्वर-तन्त्रियों की समीपता (संवृतता) व दूरी (विवृतता) के कारण वायुवेग की विशेपता या कमी से वर्णों के सघोष, अघोप, महा-प्राण, और अल्पप्राण चार भेद हो जाते हैं। उपरोक्त तालिका में ये चारों भेद स्पष्ट कर दिये गये हैं।

वाह्य प्रयत्न मुख के वाहर (अर्थात मुख के प्रारंभ होने से पूर्व तक)होता है, और स्पर्श (क से लेकर म पर्यन्त २५ वर्ण) व घर्षक का भेद मुख के भीतर होने से आभ्यन्तर प्रयत्न कहलाता है।

उच्चारण-ध्वनि की आपेक्षिक पारिस्फुटता के कारण भी स्वरों और व्यंजनो में भेद हो गया है। स्वर अधिक परिस्फुटता के साथ श्रुतिगोचर होते हैं, व्यंजन कम। कहीं-कहीं इस दृष्टि से स्वर और व्यञ्जन में भेद करने में कठिनाई पड़ जाती है। एक स्वर के पीछे ही उससे अधिक परिपुष्ट स्वर जब

आजाता है, और इसी कारण पहला स्वर अति ह्रस्व उच्चरित होता है, तब पूर्ववर्त्ती स्वरों को 'अन्तस्थ' कहा जाता है, और तब ऐसे स्वरों का वर्गीकरण व्यंजनों के साथ ही होता है। य, र, ल, व, हिन्दी में अन्तस्थ कहलाते हैं। अंग्रेजी के अन्तस्थों y. i का उच्चारण हमारे 'ई' अक्षर से बहुत कुछ मिलता है, परन्तु उच्चारण में अंग्रेजी y की स्थानीय जर्मन y अधिक घर्षकता रखने से व्यंजन के अधिक निकट पड़ता है। इस कारण ऐसे स्थानों में 'य' के स्वरूप की प्रतीति होती है। हिन्दी में भी 'गई' के स्थान में 'गयी' का प्रयोग होता है।

इस से संस्कृत या देवनागरी वर्णमाला दो भागों में बँटी है। ये भाग निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाते हैं:—

तालिका संख्या ३
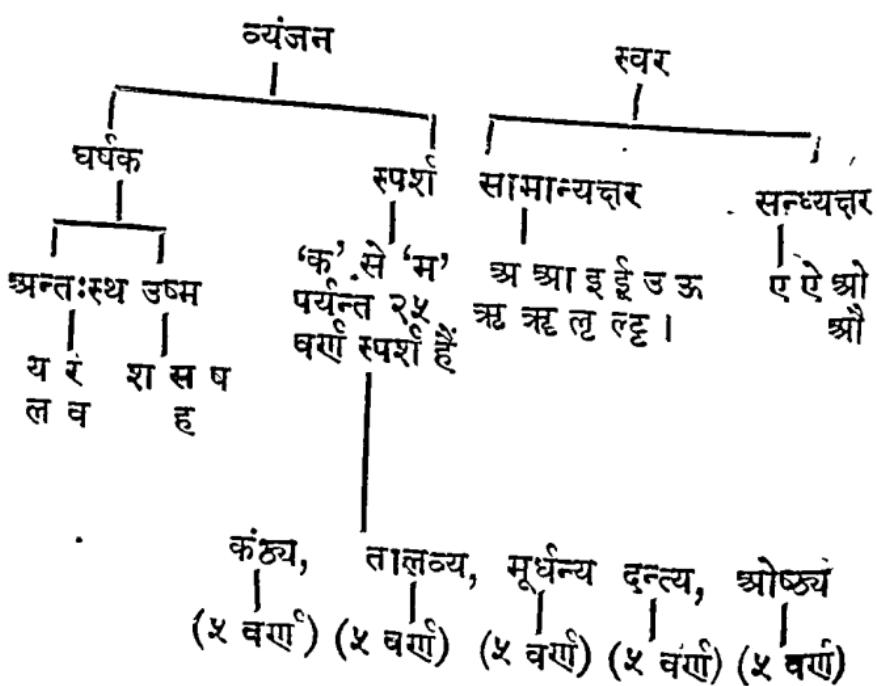
ध्वनियों की विशेषता या गुण

(मात्रा, सुर और बलाघात)

ध्वनि में तीन कारणों से विशेषता आती है। बोलते समय मात्रा, सुर और बलाघात इन तीनों गुणों में से किसी न किसी का सहारा लेकर ही ध्वनि उच्चरित होती है। यही कारण है कि इन्हें ध्वनि के गुण कहते हैं।

मात्रा —काल का वह अंश है जो किसी एक ध्वनि के उच्चारण में लगता है। मात्रा के तीन भेद हैं— ह्रस्व या एक मात्रिक, दीर्घ या द्विमात्रिक, प्लुत या त्रिमात्रिक। हिन्दी में प्लुत का प्रयोग नहीं होता।

ह्रस्व-दीर्घ का विवेक भाषा विशेष की उच्चारण- परम्परा के अनुसार रहता है, इसके लिये कोई मुख्य आधार नहीं है। भारतीय वर्ण-विज्ञानियों ने 'अ' और 'इ' का दीर्घ रूप 'आ' व 'ई' माना है। यदि वास्तव में इस भेद के मूल में कोई प्राकृतिक कारण नहीं तो 'इ' को आप कितनी ही देर तक बोलते रहने पर भी 'ई' का सा उच्चारण क्यों नहीं लासकते। यदि यह भेद कालजन्य ही है, तब अधिक काल तक (अ) को 'आ' की ध्वनि क्यों नहीं लासकते? इससे ज्ञात होता है कि ह्रस्व-दीर्घ-विवेक के मूल में केवल कालकृत भेद ही नहीं अपितु प्राकृतिक कारण भी है।

सुर —स्वरतंत्रियों के ढिलाव व तनाव से सुर उत्पन्न होता है। इसे घोष भी कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है —मंद्र मध्य व तार (उच्च, नीच व सम) आधुनिकयुग के भाषा-विज्ञानियों ने इन के लिये क्रमशः / \ — • ये चिह्न बना रखे हैं। वैदिकयुग में इन्हें क्रमशः (— ।) इन चिह्नों से प्रकट किया

आता था, और उदात्त*, अनुदात्त, स्वरित नाम से कहा जाता था। आर्य भाषाओं में सुर का अधिक महत्व नहीं रहा। हाँ वर्त्तमान आर्य भाषाओं में विधि, निषेध, स्वीकृति, आश्चर्य, वितर्क घृणा व संतोष के भाव प्रकट करने में सुर का प्रयोग होता है। चीनी व अफ़रीकी भाषाओं में सुर की प्रधानता है। इन भाषाओं में सुर-भेद से अर्थ-भेद तक हो जाता है। यथा चीनी भाषा में व धीमा उच्चारण करने से 'महिला' अर्थ होता है, और 'व' का उच्च उच्चारण करने से उमेठवा एवं तीव्र उच्चारण करने से राज का कृपापात्र अर्थ होजाता है। इसी प्रकार अन्य सुर प्रधान भाषाओं में सुर-भेद से अर्थ-भेद हो जाया करता है।

बलाघात—अक्षर या वर्ण पर जोर देने को कहते हैं। भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रवाह के अनुसार इसका प्रयोग होता है। बलाघात से भी अर्थ में भेद उत्पन्न हो जाता है। यह ध्वनि का महत्वपूर्ण गुण है। अंग्रेजी में इस गुण का अधिक प्रयोग होता है।

संयुक्त (मिश्र) ध्वनियां

भाषा चूंकि ध्वनिसमूह से बनती है इसलिये दो ध्वनियों का पास-पास आकर मिलजाना कोई अजब बात नहीं। ध्वनियों का यह मेल ध्वनियों के प्रकृतिसाम्य के आधार पर ही होता है। प्रत्येक वाक्य में स्वर और व्यंजन दोनों प्रकार की ध्वनियाँ रहती हैं, परन्तु कौन ध्वनि किस ध्वनि से कब मिलजाया करती है, इसे हर व्यक्ति नहीं समझ सकता। इसे तो वही जान सकता है जो किसी भाषाविशेष का विशेषज्ञ होता है। संस्कृत में इन ध्वनियों के लिये ' सन्धि ' नाम से नियम बने हुए हैं।

---

* उदात्त के लिये कोई चिह्न नहीं होता।

जहाँ ध्वनियाँ मिलती हैं वहां एक तीसरी ही ध्वनि उत्पन्न हो जाती है। शब्द में भी इस ध्वनि विकार के कारण विकृति उत्पन्न हो जाती है। यथा-गो+एषण = गवेषण। पौ—अकः = पावकः। परन्तु प्राकृत में प्रायः इसकी उल्टी बात देखी जाती है। यहां दो से अधिक व्यंजन एक साथ आने ही नहीं पाते थे। आते भी थे तो शब्द के मध्य में आते थे आरंभ या अन्त में नहीं। यथा- दंष्ट्रा = दाढ़ा पर संस्कृत की परम्परा के विरुद्ध प्राकृत में एक से अधिक स्वर एक साथ पास पास रह सकते थे। यथा एोडर अन्वेडरआदि। कभी-कभी ये मिश्र ध्वनियां शब्द की अमिश्रत आकृति में भी सुनाई देती है यथा—'पाइसा' शब्द में। यहां 'अ'-'ई' स्वरों में अ का उच्चारण 'इ' से पूर्व आता है। 'अ' का स्थान मध्य सा 'व' उच्चारण प्रयत्न अर्द्ध विवृत सा है तथा 'ई' का स्थान अग्र 'व' प्रयत्न संवृत सा है इसका परिणाम यह होता है कि जीभ अ से हटकर तुरन्त 'इ' पर आती है और उच्चारण ए का होजाता है। पइसा का पैसा बन जाता है प में जो 'अ' था 'इ' के योग से 'ए' बन जाता है, मिश्र या संयुक्त ध्वनियों में इसी कारण स्वरत्व की अल्पता ही मूल आधार रहा करती है यह एक दृढ़ सिद्धान्त समझना चाहिए।

ध्वनि परिवर्तन या विकास

ध्वनि परिवर्तन या ध्वनि-विकास का इतिहास केवल भूत काल की भाषाओं के बल पर ही खड़ा हो सकता है। किस प्रकार प्राचीन ध्वनियां अर्वाचीन भाषाओं में आकर बदल जाती हैं, यह समझने के लिये हमें पीछे ही देखना पड़ता है। वास्तव में भाषा-विकास के साथ-साथ ध्वनियों में भी विकास होता है। भाषा-विकास के प्रमुख कारण हैं- ऐतिहासिक संघर्ष, मानसिक संघर्ष,

राजनैतिक संघर्ष, व आर्थिक संघर्ष। इन्हीं संघर्षोंमें पड़कर भाषा की परिस्थितियां बदल जाती हैं, नई ध्वनियां भाषा में आजाती हैं। फ़ारसी- अंग्रेजी के प्रभाव से प्रभावित कई ध्वनियां आज हिन्दी में इसी प्रकार के संघर्षों का परिणाम हैं। ध्वनि-विकास के कारण कभी कभी ध्वनि व अर्थ भिन्न रखते हुए भी शब्दों में साम्य हो जाता है परन्तु, अर्थ में फिर भी भिन्नता ही रहती है। यथा—'काज़' और 'काज' में दो भिन्न सभ्यताओं के सम्पर्क से ध्वनि साम्य हो गया और दोनों का उच्चारण 'काज' रह गया परन्तु, एक काज का अर्थ बटन का छेद और दूसरे का कार्य किया जाता है। अंग्रेजी में भी इस प्रकार के उदाहरण बहुत हैं—यथा 'सन्' शब्द। Sun सन् का अर्थ है सूर्य और Son सन् का बेटा।

रूप विचार

(पद—रचना)

[सम्बन्धावयव (समन्ध तत्व) और अर्थावयव (अर्थतत्व) के आधार पर]

नियमानुसार रूपविचार में केवल शब्दों की विभक्तियों और उनके साधन रूप शब्दों का विचार होना संगत है, परन्तु, साधारणतया रूप--विचार व्याकरण का पर्याय बनगया है। व्याकरण के मुख्य दो भाग हैं—शब्दसाधन और वाक्य--विचार। शब्द साधन से पद-रचना का सम्बन्ध है। जिस पद में अर्थ के उद्बोध करने की शक्ति नहीं होती उसे शब्द कहते हैं। जब यही शब्द वाक्य में भाषा की पध्दति--परम्परा के अनुसार सम्बन्धतत्व (सम्बधावयव) व अर्थतत्व (अर्थावयव) के अलग अलग या सम्मिलित अर्थ का बोध कराता है तब इसे पद कहते हैं। प्रत्येक भाषा में, भाषाविशेष की

परम्परा के अनुसार पद का लक्षण बनाना पड़ेगा। पर साधारण रूप से उपर्युक्त लक्षण सभी भाषाओं के पदों पर लागू होसकता है।

ध्वनि-समूह का नाम वाक्य है। वाक्य भाषा का अवयव है, भाषा वाक्यों का समूह है। ध्वनि-समूह के भी छोटे-छोटे समूह होते हैं। ये समूह उच्चारण व अर्थव्यञ्जकता की सुविधानुसार बनते हैं। उच्चारण की दृष्टि से जो समूह बनते हैं उनकी जानकारी ध्वनि-विज्ञान से प्राप्त होती है, एवं अर्थ व्यंजकता की दृष्टि से बनने वाले ध्वनि-समूह की परिगणना पद रचना विज्ञान (रूप-विचार) के द्वारा होती है। पूरा वाक्य-आकर बोलने वाले के मस्तिष्क में रहता है। यही ध्वनि के द्वारा निकल कर अन्य लोगों के समझने की वस्तु बनता है।

कभी मस्तिष्क में वाक्य का आकार या प्रतिमा कुछ रहती है, और उच्चारण कुछ और ही होजाता है। इस अव्यवस्था का कारण है प्रयत्न लाघव। यथा पम्प में हवा भरदी, या उँगली में कान मत कर। शीघ्रता वश पूरे शब्दों को न बोल, हम शब्दांश को ही कहकर काम चला लेना चाहते हैं तभी यह अव्यवस्था होती है। वाक्य में कभी-कभी एक, और कभी-कभी कई पद रहते हैं, परन्तु वाक्य में चाहे कितने ही पद रहें सब का अर्थ समष्टि रूप में ग्रहण होता है। वाक्य का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि उसमें दो प्रकार के तत्व मिले रह कर अर्थ व्यक्त करते हैं। एक तो वह तत्व जो अर्थतत्व का (अर्थावयव) का बोध कराता है, और दूसरा वह जो अर्थ तत्व के परस्पर सम्बन्ध का बोध कराता है। यह दूसरा तत्व सम्बन्ध तत्व (सम्बन्धावयव) कहलाता है। यथा 'राम की गाय सुन्दर है' इस वाक्य में राम व सुन्दर अर्थ तत्व हैं, और 'की' वाक्य में आये हुए ध्वनिसमूह का परस्पर सम्बन्ध

बतलाने के कारण सम्बन्ध तत्व है। प्रत्येक भाषा में विचार को व्यक्त करने की कुछ धाराएं बनजाती हैं। इन धाराओं में सामाजिक प्रभाव पड़ने से कुछ हेर-फेर भी हुआ करते हैं। यथा- संस्कृत बोलने वालों की विचार धारा एक प्रवाह से चलती थी; पाली व प्राकृत आदि की धाराएं धीरे-धीरे बदलतीं चली गई। चीनी का प्रवाह दूसरा है, अरबी का दूसरा।

भाषाओं की विचार धाराओं के इसी अन्तर को समझने के लिये सम्बन्धतत्व (सम्बन्धावयव) की आवश्यकता पड़ती है। सम्बन्धतत्वों के प्रकट करने के ढंग से ज्ञात हो जाता है कि कौन भाषा किस प्रकार सम्बन्ध तत्वों का प्रयोग करती है। साधारणतया सुविधा के लिये सम्बन्धतत्वों के प्रयोग को ६ प्रकारों में बांट दिया गया है:—

१- अलग शब्द के रूप में। यथा संस्कृत के इति, 'एव' अपि और हिन्दी के से ,का ,की ,में ,पर, तब, जब आदि।

२- अर्थ तत्व के साथ जोड़कर। यथा संकृत का 'अगच्छन' हिन्दी में करना, करवाना (प्रेरणार्थ में) 'आनी' स्त्री प्रत्यय यथा पंडित से पंडितानी इत्यादि। इस उपाय का अवलम्बन प्रायः सभी भाषाओं में प्रचुर मात्रा में है। जहां अर्थतत्व तीन मात्राओं के होते हैं, सम्बधतत्व प्राय उनमें आगे, पीछे या बीच में लगते हैं। यथा—व, ल, द वल्द, वालिद, तवल्लुद।

३-अर्थतत्व की ध्वनियों में कुछ परिवर्त्तन करके सम्बन्धतत्व का काम लेकर। यथा-शृंग अर्थतत्व है, इससे शाङ्ग (अर्थात् सींग से बनी वस्तु) यह अर्थ होजाता है

४- अर्थतत्व में मात्रा, सुर या बलाधात के द्वारा सम्बधतत्व का भाव प्रकट करके। यथा—रे-कार्ड . (किया

रेकार्ड (संज्ञा)

५- विरामचिह्नों द्वारा सम्बधतत्व प्रकट करके । यथा कर, चल, जा, में आज्ञा के अर्थ का वोध होता है।

और ६- वाक्य में शब्द की स्थान स्थिति से (सम्बन्धतत्व) सम्बन्धावयव का वोध कराके।

इस प्रकार सम्बन्धतत्वों (सम्बन्धावयवों) को प्रकट करने के भिन्न भिन्न प्रकारों से भाषाओं की रचना-शैली भी भिन्न २ हो गई हैं। कहीं २ अर्थतत्व (अर्थावयव) व सम्बन्धतत्व (सम्बन्धावयव) ऐसे मिले जुले रहते हैं कि एक ही शब्द दोनो तत्वों का बोध करादेता है। प्राचीन आर्य भाषाएँ व सभी भाषाएँ अधिकांश में इसी प्रकार की हैं। कहीं-कहीं एक से अधिक शब्द सम्बन्धतत्व का वोध करादेते हैं। यथा हिन्दी में यदि तो) का प्रयोग ऐसा हीहै।

शब्द में प्रत्यय जोड़ कर इसे वाक्य में व्यवहार के योग्य बनालिया जाय तो यही 'पद' कहलाने लगता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि सिद्ध शब्द पद कहलाते हैं, और असिद्ध रूप में यही 'शब्द'।

ध्वन्यात्मक शब्द का एक साथ ही उच्चारण हो सकता है, परन्तु, व्याकरणात्मक* शब्द सुविधानुसार अर्थ के अनुसार छोड़ा भी जासकता है।

पद—विकास

धीरे-धीरे अनुभव के साथ-साथ वस्तु से भिन्न, गुण का बोध होने लगता है। वाक्य द्वारा जाने जाने वाले अर्थ का विश्लेषण प्रत्येक भाषा में किन्हीं धाराओं में होता है जो स्वाभाविक और

* सार्थ शब्द

सर्व साधारण हो जाती हैं। इन धाराओं का निर्धारण विशिष्ट सम्बन्धतत्वों (सम्बन्धावयवों) द्वारा ही होता है। लिङ्ग, वचन, कारक और पुरुष (उत्तम, मध्यम व अन्य) काल, प्रश्न तथा निषेध आदि के भाव सम्बन्धावयवों (सम्बन्ध तत्वों) के द्वारा ही जतलाए जाते हैं।

लिङ्ग

व्याकरण के अनुसार शब्दों में तीन लिङ्ग होते हैं—

क–पुल्लिङ्ग

ख–स्त्रीलिङ्ग

ग–नपुंसकलिङ्ग यहाँ याद रखना चाहिये कि इन लिङ्गों का नैसर्गिक पुंस्त्व व स्त्रीत्व से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। संस्कृत में स्त्रीवाचक शब्द पुल्लिङ्ग में भी प्रयुक्त होते हैं। यथा दाराः पु०, महिला स्त्री लिङ्ग व कलत्रं नपुंसक लिङ्ग है। भिन्न २ स्त्री वाचक शब्द भिन्न २ लिङ्गो में प्रयुक्त होरहा है।

मुंडा भाषा में पुल्लिङ्ग व स्त्रीलिङ्ग का भेद ही नहीं है। स्त्रीत्व व पुंस्त्व का भेद जानने के लिये फारसी की भांति 'नर' या 'मादा' जोड़ कर स्त्रीत्व या पुंस्त्व का भाव प्रकट किया जाता है।

इससे सिद्ध है कि नैसर्गिक स्त्रीत्व या पुंस्त्व का लिङ्गों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वर्त्तमान भाषाओं के लिङ्ग को खोजते खोजते हम प्राचीनतम भाषाओं तक पहुँच जाते हैं। हिन्दी, गुजराती व अन्य भारतीय भाषाओं के लिङ्ग हमें संस्कृत से ला मिलाते हैं। इस प्रकार के विवेचन से निष्कर्ष यही निकलता है कि आरभ में लिङ्गो का प्रयोग गुण कर्म के अनुसार ही चला होगा। और यही कारण है कि संकृत का दाराः शब्द स्त्री की गृह-कार्य-दक्षता देखकर ही पुल्लिङ्ग माना गया होगा। इसी

प्रकार अन्य शब्दों का भी लिङ्ग-निर्णय हुआ होगा। जहां जड़ता का लक्षण दीखा होगा वहाँ नपुंसक, और जहां कोमलता का अनुभव हुआ होगा वहां स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया जाने लगा होगा। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह लिङ्ग-भेद कोई तथ्य नहीं रखता और हटाया भी जासकता है।

संस्कृत में प्रायः शब्दान्त के विचार से लिङ्ग-निर्णय होता है, जिसका विवेचन पाणिनि के लिङ्गानुशासन में किया गया है।

वचन

आदिम भारोपीय (भारत व यूरोपीय) भाषाओं में तीन वचन थे—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन। पहिले द्विवचन का प्रयोग केवल उन वस्तुओं के लिये ही होता था जिनका नैसर्गिक युग्म होता है। यथा-हाथ, पाँव, आँख, कान, इत्यादि धीरे-धीरे किन्हीं दो वस्तुओं के लिये भी द्विवचन का प्रयोग चल निकला। संसार की अन्य भाषाओं का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि अधिकतर भाषाओं में एक व बहुवचन को व्यक्त करने का प्रबंध है। लिथुएनियन भाषा में अब भी संस्कृत की भाँति द्विवचन मिलता है। एफ्रीका की कुछ भाषाओं में तो त्रिवचन तक का रूप प्राप्त होता है। इन वचनों के अतिरिक्त कई भाषाओं में व्यक्ति और समूह को अलग-अलग व्यक्त करने के साधन भी हैं। 'गण' शब्द जोड़कर समूह का ज्ञान करादिया जाता है। कहीं वेद अर्थात ४, ऋषि अर्थात ७ इस प्रकार भी संख्या या समूह का ज्ञान कराया जाता है। संस्कृत का द्विवचन पाली, प्राकृत एवं हिन्दी में आकर लुप्त होगया है।

काल

काल के विचार में उत्तरोत्तर स्पष्टता आती गई है। अब

यह जितना स्पष्ट जान पड़ता है उतना पहिले सक्ष्य की भाषाओं में न थी। काल तीन हैं— वर्त्तमान, भूत, भविष्यत। संस्कृत में भूत काल के तीन रूप हैं —अनद्यतन, परोक्ष, सामान्य। वर्तमान भाषाओं में काल-प्रक्रिया को यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो पता चलता है कि वर्त्तमान के रूप तो असंदिग्ध हैं, पर अन्य कालों के नहीं। भविष्य का ज्ञान अन्य धातु जोड़ कर ही कराया जाता है। यथा —'शैल' या 'विल' जोड़ कर अंग्रेजी में भविष्य का रूप बनाया जाता है हिंन्दी में 'गा,गी,गे' अंग्रेजी के 'शैल' या 'विल' की जगह जोड़ कर भविष्यत काल बनाया जाता है। इसी प्रकार भूत काल का भी कोई पक्का आधार नहीं है। वास्तव में तो मानव-जीवन में वर्तमान ही निश्चित काल है।

प्रेरणार्थक क्रिया

संस्कृत में क्रिया के काल पर अधिक ध्यान न था, बल्कि उसके प्रकार पर विशेष विचार था। कर्त्ता स्वयं कोई कार्य करता है या किसी से कराता है, इन दोनों के लिये दो रूप हैं। यथा-'गच्छति, स्वयं जाता है, और' गमयति' गच्छति का प्रेरणार्थक रूप हैं। हिन्दी में यथा 'पढना' का 'पढवाना' प्रेरणार्थक रूप है। संस्कृत में धातुओं को दस वर्गों में बांटा है। इन वर्गों या भागों को गण कहते हैं।

वाच्य

संस्कृत में तीन वाच्य हैं— कर्त्ता, कर्म और भाव। जहाँ कर्त्ता पर वल होता है वहां कर्तृवाच्य, जहाँ पर कर्म वल हो वहाँ कर्मवाच्य और जहाँ भाव पर वल हो वहाँ भाववाच्य होता है।

पद

संस्कृत की धातुएँ दो पदों में वँटी हैं- आत्मने पद व

परस्मै पद। कर्त्ता को जहां स्वयं को क्रिया का फल मिलता है वहाँ आत्मनेपद, और जहां क्रिया का फल दूसरे को मिले, वहां परस्मै पद होता है।

वृत्ति

संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं में आशीलिंङ्, विधिलिङ्ग व आज्ञा आदि विभिन्न वृत्तियों के लिये भिन्न-भिन्न रूप थे, किन्तु हिन्दी में यह विभिन्नता प्रायः नष्ट हो चुकी है। अंग्रेज़ी में यद्यपि कई वृत्तियों का उल्लेख मिलता है, तब भी बहुधा वर्तमानकाल से ही सभी काम चलाया जाता है।

विभक्ति

संज्ञा, सर्वनाम व विशेषण के भिन्न-भिन्न रूपों को विभक्ति कहते हैं। संस्कृत में सात विभक्तियां हैं। सम्बोधन एक प्रकार की प्रथमा विभक्ति ही है। इन सात विभक्तियों के स्थान में हिन्दी में केवल दो ही विभक्तियां हैं विकारी और अविकारी अर्थात् एक ऐसी जिसका मूलरूप जैसा का तैसा रहता है, और दूसरी वे जिनका रूप विकृत हो जाता है। यथा—

अविकारी	विकारी
खिलौना	खिलौने
मैं	मुझे, मुझ, मेरा
गाय	गायें
बेटा	बेटों

कारक

उपर्युक्त विभक्तियों का जब क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है तब उन्हीं को कारक कहते हैं। यदि किसी क्रिया के साथ किसी विभक्ति का सम्बन्ध न हो तो उसे कारक नहीं कहेंगे, यथा षष्ठी

विभक्ति को सम्बन्ध कारक नहीं माना जाता। सम्बन्ध तत्त्वों द्वारा व्यक्त की गई और व्याकरण द्वारा लक्षित इन धाराओं का जितना ही सूक्ष्मता से हम विचार करते हैं, उतना ही यह स्पट होता जाता है कि ये धाराएँ न तो नैसर्गिक हैं न तार्किक सिद्धान्तों पर ही टिकने वाली।

हर भाषा में अलग-अलग कुछ ऐसी अपनी धाराएँ होती हैं जिनको उस भाषा के बोलने वाले ही समझ सकते हैं। भाषा की ये धाराएँ संघटित समाज से ही उठती हैं, और जब किसी विशेष धारा से समाज उकता जाता है तो उसमें परिवर्त्तन होने लगता है। इसी प्रकार पद-विकास का क्रम प्रत्येक भाषा में चालू रहता है।

शब्द (पद) के भेद और व्याख्या

भिन्न-भिन्न भाषाओं के वैयाकरणों ने शब्दों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। यही कारण है, शब्द के भेदों की संख्या १० तक पहुंच गयी है। भारत ने प्राचीन काल में इसके तीन भेद किये थे- नाम, आख्यात, और निपात। पर आजकल इन्हीं को संज्ञा, क्रिया, और अव्यय नाम से प्रकट करते हैं। संज्ञा में विशेषण व सर्वनाम का अन्तर्भाव हो जाता है। अंग्रेजी आदि पाश्चात्य भाषाओं में शब्दों के आठ भेद किये हैं - संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण ये तो पहिले से ही हैं। अव्ययों के भी अब चार विभाग कर लिये गये हैं- क्रिया-विशेषण, समुच्चयबोधक, संबंध-बोधक और विस्मयादि-बोधक।

संस्कृत वैयाकरणों द्वारा की हुई पद-विवेचना अधिक तर्क-पूर्ण है। आर्य भाषाओं में संज्ञा और क्रियाओं में मौलिक भेद रहता आया है। आर्य भाषाओं में संज्ञाओं के निर्माण से 'सुप्' प्रत्यय और क्रियाओं के निर्माण में 'तिङ्' होते हैं। सामी

भाषाओं में, किन्तु, ऐसा निश्चयात्मक भेद नहीं मिलता।

विशेषण और संज्ञाओं का विकास प्राचीन आर्य भाषाओं में साथ-साथ हुआ ज्ञात होता है। यह भेद वैदिक भाषा में सुर-विभिन्नता से जाना जाता है।

भाषाओं के अध्ययन से पता चलता है कि पहिले व्यापारात्मक वाक्य चलते थे, धीरे-धीरे इनका स्थान संज्ञात्मक वाक्यों ने लिया होगा। सस्कृत में महाभारत-काल से ही तिङन्त पदों का प्रयोग कम और संज्ञात्मक वाक्यों का अर्थात् शन्ट, शानच्, क्त, क्तवत्, प्रत्ययों वाले पदों का अधिक प्रयोग होने लगा था। इसी प्रकार के उदाहरण केल्टी भाषा में भी पाये जाते हैं। केल्टी के तुमन्त रूप तिङन्त रूपों को दबाते चलते हैं। तुमन्त क्तादि प्रत्ययों में अन्त होने वाले पद अंशतः संज्ञा और अंशतः क्रिया के भाव वाले होते हैं। यथा—

गाना 'गाने में' जोर से बोलना पड़ता है।

गाना 'गाते' समय कोई कोई बहुत हिलता है।

यहां 'गाने' 'गाते' पदों का संज्ञा के समान रूप है, पर अर्थ क्रिया का व्यक्त होता है।

इस विवेचन से परिणाम यह निकलता है कि संज्ञाओं के मूल में क्रिया ही छिपी हुई है। क्रिया पदों से ही संज्ञापद बनते हैं।

यथा- 'रदन' क्रिया का अर्थ फाड़ना है इससे रद (दांत) संज्ञा पद बन गया है।

'सर्प'- रेंगना क्रिया का द्योतक है, इससे सांप का नाम कीड़ा विशेष संज्ञापद बन गया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आर्य भाषाओं में संज्ञा-क्रिया का प्रकट भेद जो कुछ है वह असल में कुछ भी नहीं हैं। क्रिया संज्ञा से संज्ञा विशेषण से मिली हुई चलती है।

पद-विकास के कारण

भाषा के विकास में दो धाराएँ हैं:- ध्वनि सम्बन्धी विकास और पद सम्बन्धी विकास। पद सम्बन्धी विकास भाषाओं की रचनाकृति में समता लाने की चेष्टा से वा शब्दों की अनेकरूपता को स्थिर रखने की समता से होता है। भाषा के विकास और स्वरूप को समझने के लिये पद-विकास को समझना बड़ा आवश्यक है। पद (शब्द) प्रकृति और प्रत्येक के योग से बनता है। प्रकृति-प्रत्यय के भेद से हम को शब्दों की इयत्ता के निश्चय करने में सरलता पड़ती है। किसी शब्द के मूल अंश को 'प्रकृति' और उसके साधक अंश को 'प्रत्यय' कहते हैं। अंग्रेज़ी भाषा में इसका उदाहरण Cost, Costly, Costing है। Cost मूल शब्द है अतः प्रकृति है और ing, ly साधक अंश होने से प्रत्यय हैं। इसी प्रकार संस्कृत में 'चलति', 'चलसि', 'चलितुम्' और 'चलितव्यम्' इत्यादि उदाहरणों को जानना चाहिये।

जिस भाषा में जिस प्रकार के शब्द अधिक होते हैं, उसके बोलने वालों के अभ्यास में वैसे ही शब्द पक्के होजाते हैं। यथा संस्कृत में अकारान्त संज्ञाएँ अधिक हैं। इसी से संस्कृत बोलने वालों के अभ्यास में अकारान्त संज्ञाओं के रूप ही अधिक जमे रहते हैं। अन्य-इकारान्त, उकारान्त व्यंजनान्त शब्द कम। वक्ता अपने अभ्यासानुसार शब्दों में एकरूपता लाना चाहता है, परिणामस्वरूप पदों में विकास होता चलता है। यथा संस्कृत 'गमिष्यति' के स्थान पर प्राकृत में (गच्छिस्सति)। यद्यपि संस्कृत में 'गच्छ' और 'गम' एक ही भाव के दो-दो रूप मिलते हैं, किन्तु, प्राकृतों में दोनों के स्थान पर एक रूपता लाने के लिये एक ही रूप मिलता है।

हिन्दी में भी इस प्रवृत्ति के बहुत से उदाहरण हैं। यः

'तोड़ना' से प्रेरणार्थक 'तुड़वाना' 'मारना' का अकर्मक मरना अथवा 'राजा' का बिहारी भाषा का रूप 'राजे'।

इस प्रकार पद-विकास के मूल में सादृश्य की भावना काम करती है। सादृश्य का खिलवाड़ कई रूपों को बदल देता और कई को नष्ट कर देता है। यथा—संस्कृत के प्रथमा व द्वितीया के बहुवचन रूप 'पुत्राः' और 'पुत्रान्' थे प्राकृतों में 'पुत्रा' और 'पुत्ते' होगये। संस्कृत के समस्त पद पद-विकास का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। धीरे-धीरे समस्त पदों का इतना विकास होजाता है कि यह जानना कठिन होजाता है कि उसके मूल रूप में कौनसे-कौनसे दो शब्द रहे थे। यथा हिन्दी का सौत (सपत्नी) 'सोना' (स्वर्ण) 'सोढ़े' (सार्द्ध) से पता नहीं चलता कि इन शब्दों में किन-किन शब्दों का योग हुआ है। सम्बध तत्व का बोध कराने वाले उपसर्ग पद-विकास का और भी जीवित उदाहरण हैं। यथा 'में' (मध्य) 'का' (कृत) आदि-आदि। इन का विकास होते-होते मध्य से 'में' और कृत से 'का' रूप होगये हैं।

अर्थ विवेक (विचार)

अर्थ विवेक (विचार) का विषय भाषा का मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा सिद्धान्त प्रतिपादन करता है। किसी भाषा में भाव व विचार किन-किन साधनों से अभिव्यक्त होते हैं, एक शब्द का रूप अनेक अर्थों का बोध कराने में क्यों समर्थ होता है, एक अर्थ कितने भिन्न-भिन्न रूपों में आता है ये ही सब विषय अर्थविचार के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं।

अर्थ-विचार के विषय का अध्ययन बड़ा रोचक है। बालक जब बोलना आरंभ करता है तो अक्षरात्मक या एकाक्षर शब्द या वाक्य का उच्चारण करता है। उसके मां, गूं, आं, ऊ, एँ आदि एक-एक अक्षर में एक-एक पूरे वाक्य का भाव होता है,

जिसे वह अपने तक ही सीमित रखता है। धीरे-धीरे वह आ
इन अक्षरात्मक ध्वनियों से अर्थ का सम्बध स्थापित कर ले
है। बालक की बुद्धि परिपक्व न होने से अर्थ-बिम्ब उसके म
ष्क में स्थाई नहीं होने पाता। शब्दों का अर्थ अनुभव के
बदलता रहता है और बालक का अनुभव सीमित रहता है
अर्थ बालक के मस्तिष्क में जमने नहीं पाता। अर्थ का स
बुद्धि से है। बुद्धि का अनुभव से और अनुभव का शब्दार्थ से
ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता जाता है उसका अनुभव भी
होता जाता है। अनुभव के साथ-साथ उसके अर्थ-क्षेत्र का
विस्तार होता जाता है। यथा-एक ग्रामीण बालक पहिले
की लेखनी को ही समझता है, परन्तु, पीछे निब लगी
व फाउण्टेन पेन तक को इसी 'कलम' शब्द से या
शब्द से समझ लेता है।

किसी शब्द के अर्थ की सीमा निश्चित करना कठिन
है। एक शब्द कई अर्थ देता है। यथा ऋग्वेद में 'असुर' शब्द
वाचक है। ईरानी का 'अहुर' शब्द भी इसी अर्थ में है।
पीछे की संस्कृत में यह शब्द राक्षस वाचक होगया है। प्राय
जाता है कि जब एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में लिये
हैं तो सामाजिक वातावरण के कारण उनके अर्थों में परिव
हो जाता है। यथा हिन्दी का 'गिलास' दर्पण के अर्थ में न आ
पात्र के अर्थ में आनेलगा है। एक समाज में दैनिक प्रथा
व्यावहारिक शब्द दो प्रकार से चलते हैं। यथा 'कलम'
माली के यहाँ दूसरा अर्थ देता है, और लेखक के यहाँ दूसरा

विज्ञान के पंडित ब्रील महोदय ने अर्थ-विकास की
मुख्य दिशाएँ मानी हैं—अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच और
देश। बा० श्यामसुन्दरदास ने इस विषयमें कुछ नियम

े ये हैं: १— विशेष भाव का नियम, २— भेदीकरण का
ा, ३— उद्योतन का नियम, ४— विभक्तियों के भग्नावशेष
नयम, ५— मिथ्या प्रतीति का नियम, ६— उपमान का
ा, ७— नये लाभ का नियम व, ८— अनुपयोगी रूप नाश
नयम। पुनः शब्दों के अर्थों के घटने-बढ़ने के लिये भी
ने कुछ नियमों का आश्रय लिया है। वे ये हैं :—१अर्था-
, २— अर्थापदेश, ३— अर्थोत्कर्ष, ४— अर्थसंकोच, ५—
विस्तार, —६ रूपक, ७— अनेकार्थकता, आदि। परन्तु,
। से अर्थ-विकास की तीन ही दिशाएँ हैं:—

अर्थ-विस्तार, —२ अर्थ-संकोच, —३ अर्थादेश।

अर्थ-संकोच के विपरीत कार्य को अर्थ-विस्तार कहते हैं। प-
वस्तुओं के नाम विशेष गुणों के आधार पर ही रखे जाते
र धीरे २ उनका रूढ़ अर्थ सामने रहजाता है, और यौगिक
विस्मृत होजाता है। ऐसी दशा में यही अर्थ आवश्यकता पड़-
विशेष से सामान्य की ओर बढ़ने लगता है- उसमें विस्तार
ता है। यथा हिन्दी में 'स्याही' का मूल अर्थ है काली पर
उसका विकार या विस्तार यहां तक हो गया है कि लाल
नीली कैसी ही रंग की क्यों न हो सबके साथ स्याही शब्द
ग हो गया है। नीली स्याही, काली स्याही, लाल स्याही,
। इसी प्रकार 'तैल' शब्द भी है। तिल का सार 'तैल'
है। पर अब तो बादाम का तेल, सरसों का तेल, अंडी का
भी के साथ 'तैल' शब्द का प्रयोग होने लगा है।

अर्थ-विस्तार के विपरीत भाव को ही अर्थ संकोच कहते है।
संकोच सभ्यता का द्योतक है। प्रो० ब्रेल ने लिखा है जो लोग
ी ही सभ्य होते हैं उनके यहां उतना ही अर्थ संकोच रहता
-एक ही 'गोली' का सिपाही, वैद्य, दरजी व खिलाड़ी के

जिसे वह अपने तक ही सीमित रखता है। धीरे-धीरे वह अपनी इन अक्षरात्मक ध्वनियों से अर्थ का संम्बध स्थापित कर लेता है। वालक की बुद्धि परिपक्व न होने से अर्थ-बिम्ब उसके मस्तिष्क में स्थाई नहीं होने पाता। शब्दों का अर्थ अनुभव के साथ बदलता रहता है और वालक का अनुभव सीमित रहता है अतः अर्थ वालक के मस्तिष्क में जमने नहीं पाता। अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि से है। बुद्धि का अनुभव से और अनुभव का शब्दार्थ से। ज्यों-ज्यों वालक बड़ा होता जाता है उसका अनुभव भी प्रौढ़ होता जाता है। अनुभव के साथ-साथ उसके अर्थ-क्षेत्र का भी विस्तार होता जाता है। यथा-एक ग्रामीण वालक पहिले सेंटे की लेखनी को ही समझता है, परन्तु, पीछे निब लगी कलम व फाउण्टेन पेन तक को इसी 'कलम' शब्द से या 'लेखनी' शब्द से समझ लेता है।

किसी शब्द के अर्थ की सीमा निश्चित करना कठिन काम है। एक शब्द कई अर्थ देता है। यथा ऋग्वेद में 'असुर' शब्द देव-वाचक है। ईरानी का 'अहुर' शब्द भी इसी अर्थ में है। किन्तु पीछे की संस्कृत में यह शब्द राक्षस वाचक होगया है। प्रायःदेखा जाता है कि जब एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में लिये जाते हैं तो सामाजिक वातावरण के कारण उनके अर्थों में परिवर्त्तन हो जाताहै। यथा हिन्दी का 'गिलास' दर्पण के अर्थ में न आकर पात्र के अर्थ में आनेलगा है। एक समाज में दैनिक प्रयोग के व्यावहारिक शब्द दो प्रकार से चलते हैं। यथा 'कलम' शब्द माली के यहाँ दूसरा अर्थ देता है, और लेखक के यहाँ दूसरा।

विज्ञान के पंडित ब्रील महोदय ने अर्थ-विकास को तीन मुख्य दिशाएं मानी हैं—अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच और अर्थादेश। बा० श्यामसुन्दरदास ने इस विषयमें कुछ नियम लिखे

हैं। वे ये हैं: १— विशेष भाव का नियम, २— भेदीकरण का नियम, ३— उद्योतन का नियम, ४— विभक्तियों के भग्नावशेष का नियम, ५— मिथ्या प्रतीति का नियम, ६— उपमान का नियम, ७— नये लाभ का नियम व, ८— अनुपयोगी रूप नाश का नियम। पुनः शब्दों के अर्थों के घटने-बढ़ने के लिये भी उन्होंने कुछ नियमों का आश्रय लिया है। वे ये हैं :—१अर्थापकर्ष, २— अर्थापदेश, ३— अर्थोत्कर्ष, ४— अर्थसंकोच, ५— अर्थ-विस्तार, —६ रूपक, ७— अनेकार्थकता, आदि। परन्तु, संक्षेप से अर्थ-विकास की तीन ही दिशाएँ हैं:—

—१ अर्थ-विस्तार, —२ अर्थ-संकोच, —३ अर्थादेश।

अर्थ-संकोच के विपरीत कार्य को अर्थ-विस्तार कहते हैं। पहिले वस्तुओं के नाम विशेष गुणों के आधार पर ही रखे जाते हैं, फिर धीरे २ उनका रूढ़ अर्थ सामने रहजाता है, और यौगिक अर्थ विस्मृत होजाता है। ऐसी दशा में यही अर्थ आवश्यकता पड़ने पर विशेष से सामान्य की ओर बढ़ने लगता है- उसमें विस्तार होजाता है। यथा हिन्दी में 'स्याही' का मूल अर्थ है काली पर अब उसका विकास या विस्तार यहां तक हो गया है कि लाल पीली नीली कैसी ही रग को क्यों न हो सबके साथ स्याही शब्द का योग हो गया है। नीली स्याही, काली स्याही, लाल स्याही, इत्यादि। इसी प्रकार 'तैल' शब्द भी है। तिल का सार 'तैल' होता है। पर अब तो बादाम का तैल, सरसों का तैल, अंडी का तैल सभी के साथ 'तैल' शब्द का प्रयोग होने लगा है।

अर्थ-विस्तार के विपरीत भाव को ही अर्थ संकोच कहते हैं। अर्थ संकोच सभ्यता का द्योतक है। प्रो० ब्रे ल ने लिखा है जो लोग जितने ही सभ्य होते हैं उनके यहां उतना ही अर्थ संकोच रहता है। यथा-एक ही 'गोली' का सिपाही, वैद्य, दरजी व खिलाड़ी के

साथ भिन्न-भिन्न अर्थ होजाता है। परन्तु, अब गोली का अर्थ संकुचित होकर 'दवा' के ही अर्थ में रह गया है। पहिले जो शब्द पूरी जाति के लिये प्रयुक्त होते थे वे अब केवल एक वर्ग मात्र के बोधक रह गये हैं— उनके अर्थों में संकोच आ गया है। यथा- 'मृग' ऋग्वेद में पशु मात्र के लिये प्रयुक्त हुआ है (देखिये-मृगो नभीमः कुचरो गिरिष्ठा)। पर अब 'मृग' का अर्थ केवल 'हरिण' के अर्थ का ही द्योतन करता है।

कभी-कभी देखा जाता है कि एक शब्द का पूर्व अर्थ बिलकुल ही बदलकर एक अन्य ही अर्थ देने लगता है। ऐसी दशा का नाम 'अर्थादेश' की स्थिति है। यथा पहले 'दुहितृ' शब्द का अर्थ दुहने वाली था, परन्तु अब इसका अर्थ बिलकुल ही बदल गया है और 'बेटी' 'दुहिता' या 'कन्या' के अर्थ में इसका प्रयोग होता है।

इस प्रकार अर्थों के परिवर्तनों के मूल में मनोविज्ञान का भी बहुत बड़ा हाथ है। समाज में यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि बहुधा लोग अशुभ सूचक शब्दों को कुत्सित शब्दों को बचाकर दूसरी तरह उनके भाव को प्रकट कर दिया करते हैं। यथा 'मरन' को 'स्वर्ग गमन' कहकर जनाते हैं। 'वैधव्य' के भाव को 'चूड़ी फूटना' कह कर प्रकट करते हैं। भारतीय ललनाएं पति का नाम न लेकर अपने सम्बन्ध की भावना को लाला के बाबू, पंडित जी, प्रोफेसर साहब, बाबू जी, वे कह कर प्रकट करती हैं। इन सब शब्दों का और इन के अर्थों का प्रादुर्भाव मनोविज्ञान की परम्परा से प्राप्त शक्ति के द्वारा होता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि शब्दों के अर्थ, शिष्टाचार व आदर के कारण भी बदल जाते हैं। यथा ब्राह्मण शब्द से पढ़े-लिखे ब्राह्मण का भान होता है, और बाम्हन से मूर्ख ब्राह्मण का। अर्थ

विकास के अध्ययन से इतिहास को ओर पर्याप्त सहायता मिलती है। देव, असुर आदि शब्द ऐसे हैं जो उस काल के- जिसमें वे व्यवहृत होते थे- इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश डालते हैं।

भाषाओं का वर्गीकरण *

भाषाओं के अध्ययन से पता चलता है कि उनमें दो प्रकार की समता हो सकती है। एक सम्बन्धावयव (सम्बन्धतत्व) की और दूसरी अर्थावयव (अर्थतत्व) की। सम्बन्धतत्व की समता का उदाहरण— करना, जाना, खाना, पीना, सीना में 'ना' प्रत्यय की समता है। यह 'ना' प्रत्यय एक ही सम्बन्धतत्व का बोध कराता है। इसके विपरीत खाना, खाया, खाता है, खायगा आदि में सम्बन्धतत्व भिन्न भिन्न है, पर अर्थतत्व की समता है। 'खाना' क्रिया के ही ये भिन्न २ रूप व प्रयोग हैं। क्रिया के रूप में बदल नहीं हुआ है। इन्ही तत्वों को लेकर वर्गीकरण दो प्रकार का होजाता है-(१) आकृतिमूलक और (२) वंशानुक्रमिक (पारिवारिक)। आकृतिमूलक वर्गीकरण का दूसरा नाम रूप व रचना की दृष्टि का वर्गीकरण, व वंशानुक्रमिक वर्गीकरण को पारिवारिक व ऐतिहासिक वर्गीकरण भी कहते हैं। जहाँ पदरचना अर्थात् सम्बन्धावयव (सम्बन्धतत्व) की समता होती है वहां भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण होता है; और जहां सम्बन्धतत्व के साथ-साथ अर्थतत्व की भी समता रहती है, वहा ऐतिहासिक या वंशानुक्रमिक वर्गीकरण होता है।

---

* श्री डा० मङ्गलदेव ने इसे रचनामूलक व उत्पत्तिमूलक दो प्रकार का कहा है। श्री बाबूराम इसे आकृतिमूलक या पारिवारिक नाम से कहते हैं, तात्विक अंतर कुछ नहीं है। इस पुस्तक में श्री सकसेनाजी की शब्दावली को ही आधार बनाया गया है।

क [आकृतिमूलक वर्गीकरण]

(१) संयोगात्मक (योगात्मक) (२) वियोगात्मक (अयोगात्मक)

अश्लिष्ट (क) श्लिष्ट (ख) प्रश्लिष्ट (ग)

इस वर्ग में प्रत्येक शब्द अपनी अलग-अलग सत्ता रखता है। उनमें मेल न होने से विकार की संभावना नहीं रहती।

वियोगात्मक वर्ग में सम्बन्धावयव (सम्बन्धतत्व) और
अर्थावयव (अर्थतत्व) को अलग-अलग शब्द अलग- अलग
व्यक्त करने की शक्ति रखते हैं। वाक्य में शब्दों का पारस्परिक
सम्बन्ध केवल उनके वाक्यगत स्थान से ज्ञात होता है। यथा-
'मोहन सोहन को खिलाता है' और 'सोहन मोहन को खिलाता
है,' इन उदाहरणों में प्रत्येक शब्द अलग-अलग सत्ता रखता है।
यदि इन उदाहरणों के पदों को उलट दिया जाय तो सम्बन्धतत्व
भी वदल जाता है। हिन्दी, चीनी व अंग्रेजी तीनों ही भाषाएँ
वियोगात्मक वर्ग की हैं। चीनी का 'नि त न्गो' (तू मुझे मारता
है) और न्गो त नि (मैं तुझे मारता हूँ) इसके उदाहरण हैं।
संक्षेप में कह सकते हैं कि वियोगात्मक भाषाओं में सम्बन्धतत्व
(सम्बन्धावयव) स्वतंत्र शब्दों से या पद क्रम से व्यक्त होता है।

संयोगात्मक भाषाओं में अर्थतत्व (अर्थावयव) व सम्ब-
न्धतत्व (सम्बन्धावयव) आपस में जुड़े रहते हैं। उपर्युक्त
तालिका में संयोग के जो तीन प्रकार हैं उनमें (क) प्रकार का

उदाहरण अर्थात् संयोगात्मक अश्लिष्ट प्रकार का उदाहरण यूराल अल्ताई परिवार की भाषाएँ हैं। तुर्की भाषा इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। यथा तुर्की* में 'सेव' का अर्थ है 'प्यार करना'। इसी धातु में 'इस' 'इल' और 'दिर' जोड़ने से अर्थ बदल जाता है। इस वर्ग की भाषाओं में सम्बन्धतत्व (सम्बन्धावयव) और अर्थतत्व (अर्थावयव) जुड़ तो जाते हैं, परन्तु, दोनों के स्वरूप अलग अलग भासते हैं। यथा 'सेक्, मेव्' में मेक। अथवा हिन्दी के 'शिशुत्व' 'प्रभुत्व' शब्दों में 'शिशु' और 'प्रभु' से 'त्व' मिल भी रहा है, और भिन्न भी है, अतः यह संयोगात्मक अश्लिष्ट आकृति का उदाहरण है।

यह संयोग शब्द के साथ तीन प्रकार से होता है—(१) पूर्वयोग, (२) मध्ययोग और (३) अन्त्य योग। पूर्व योग वाली संयोगात्मक अश्लिष्ट भाषाओं का उदाहरण अफ्रीका के बांटू परिवार की भाषाएँ हैं। मध्य योग का उदाहरण प्रशान्त सागरीय द्वीपों की भाषाएँ हैं, और अन्त्य योग का उदाहरण द्राविड़ भाषाओं में मिलता है।

संयोगात्मक श्लिष्ट वर्ग में सम्बन्धतत्व (सम्बन्धावयव) व अर्थतत्व (अर्थावयव) आपस में मिलकर अर्थतत्व वाले भाग को विकृत कर देते हैं। इसी से इस योग को श्लिष्ट प्रकार का संयोग कहते हैं। यथा– दिन, वेद, इतिहास में अर्थतत्वों के साथ 'इक' सम्बन्धतत्व जुड़कर दैनिक, वैदिक, ऐतिहासिक रूपों में इन्हें बदल कर आपस में मिल-जुल जाता है। श्लिष्ट संयोगात्मक वर्ग का उदाहरण संस्कृत व अरबी भाषाएँ हैं। अरबी का 'कत्‌ब' धातु इसका उदाहरण है। 'कतब' से किताब,

* तुर्की भाषा में प्रकृति-स्वर की अनुरूपता प्रत्यय-स्वर में होनी आवश्यक है

'कातिब', 'मकतूब' सब उसी प्रकार बनजाते हैं जैसे ऊपर के उदाहरणों में वैदिकादि शब्द।

संयोगात्मक * प्रश्लिष्ट भाषा में सम्बन्ध तत्व व अर्थतत्व ऐसे घुल-मिल जाते हैं, जैसे दूध-पानी। इस वर्ग में इन दोनों तत्वों के मेल से एक तीसरा ही रूप बन जाता है। यथा-संस्कृत के 'ऋजु' शब्द से 'आर्जव' और 'शिशु' से 'शैशव'। इन शब्दों में दोनों ही तत्वों के असली या मूल रूप विकृत होगये हैं। इस वर्ग में संस्कृत व ग्रीनलैण्ड की भाषाएँ आती हैं।

वंशानुक्रमिक (पारिवारिक) वर्गीकरण

भाषाओं के वंशानु क्रमिक या ऐतिहासिक वर्गीकरण के लिये चार बातों की समता आवश्यक है—

१—स्थानीय समीपता

२—व्याकरण की समता

३—शब्द-साम्य और

४-ध्वनि साम्य।

इन चारों बातों की समता होने पर ही कहा जा सकता है कि अमुक भाषा अमुक परिवार की है। इन चार बातों में से केवल एक बात के आधार पर निर्णय नहीं हो सकता। स्थानीय समीपता की दृष्टि से तो बंगाली हमारे परिवार में नहीं आनी चाहिये, क्योंकि हम से बहुत दूर है। पर

* भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण विभिन्न भाषाओं में किसी एक ही प्रधान लक्षण पर निर्भर है। आकृतिमूलक वर्गीकरण से ज्ञात होता है कि भाषाएं सदा अश्लिष्टावस्था से श्लिष्ट अश्लिष्ट और फिर योगात्मक तथा अन्त में अयोगात्मक या वियोगात्मक अवस्था में आती हैं एवं फिर प्रत्यावर्तन होकर पुनः प्रश्लिष्टावस्था में पहुंच जाती हैं। यह भाषाओं की प्रकृति है।

वह दूर रहते हुए भी है हमारे परिवार की ही, और द्राविड़ भाषाएँ मराठी के पास रह कर भी हमारे कुल में नहीं आसकतीं। अतः शब्द साम्य देखना आवश्यक होजाता है। शब्द साम्य में भी तत्सम शब्दों की समता नहीं, तद्भव शब्दों की समता देखना आवश्यक है, क्योंकि तत्सम शब्द तो यात्रा, युद्ध, व्यापार आदि कई प्रसङ्गों से एक भाषा में प्रविष्ट हो सकते हैं। इतने ही से कुल-क्रम का निर्णय नहीं हो सकता। निश्चित रूप से कुल-क्रम का पता चलाने के लिये व्याकरण व ध्वनि की समता भी देखना आवश्यक है। जहां व्याकरण व ध्वनि साम्य की छाप लग जाय वहीं यह निर्णय किया जा सकता है कि अमुक भाषा अमुक कुल की है। शब्द साम्य का एक उदाहरण देखिये— संस्कृत का 'अश्व', ग्रीक भाषा का 'हिप्पोस' फारसी का 'अस्प' जर्मन का 'गेन्स' संस्कृत का 'हंस' अंग्रेजी का 'गूज' प्राचीन आइरिश का 'गैस'। ये सब ऐसे शब्द हैं जिनके मूल में कोई एक ही शब्द रहा है। इसी आधार पर उक्त सभी भाषाओं का कुल या परिवार भी एक ही माना जाता है। इन शब्दों में जो अन्तर लक्षित होता है वह वर्णविकार-सम्बन्धी* नियमों के ही आधार पर है।

विविध भाषा परिवार

'भाषापरिवार' शब्द में 'परिवार' शब्द का प्रयोग औपचारिक है। इस शब्द के प्रयोग से यह आशय है कि किसी भी भाषा-परिवार से सम्बन्ध रखने वाली सारी भाषाएँ किसी एक ही

* वर्ण विकार सम्बन्धी नियम के अनुसार मूल शब्द कालान्तर में दूसरे रूप को धारण कर लेता है, एवं भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न रूपों में दिखलाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में पं० ग्रिम के नियमों पर यथास्थान प्रकाश डाला जायगा।

भाषा से निकली हैं, अर्थात् उन सब का मूल-स्रोत एक ही भाषा थी।

भाषा साम्य की दृष्टि से संसार के जो-जो भू-भाग जिस-जिस के साथ आसकते हैं। उन-उन का एक-एक समूह बना दिया जाय तो अनुचित नहीं।

भाषा साम्य की दृष्टि से यूरोप व एशिया का एक चक्र बन सकता है। दोनों अमरीकाओं का एक, प्रशान्त महासागरीय द्वीपों का एक एवं अफ्रीका का एक। इस प्रकार कुल चार चाक्र बनते हैं। डा० मङ्गलदेव ने जिस सामी भाषाओं का एक स्वतंत्र परिवार माना है‡, वे वास्तव में यूरेशियाई नाम के विशाल परिवार का एक भाषा-समूह मात्र हैं।

[क] यूरेशियाई चक्र

१ *सामी भाषा समूह

सामी भाषाओं के समूह की विशेषताएं निम्न हैं:—

---

‡डा०श्री मङ्गलदेव ने समस्त संसार की भाषाओं को निम्न परिवारों में बांटा है: —१-भारत यूरोपीय भाषापरिवार २-सेमेटिक भाषापरिवार ३-हैमिटिक भाषापरिवार ४-युराल-ऐल्टेइक परिवार ५-द्रविड परिवार ६-मुण्डा-परिवार ७-तिब्बती वर्मी परिवार ८-चीनी परिवार व ९-अन्य भाषा परिवार।

डा० श्री बाबूराम ने समस्त ससार की भाषाओं के चार चक्र बनाये हैं। वे ये हैं:- १-अमरीकी चक्र २-प्रशान्त चक्र ३-अफ्रीकी चक्र और ४-यूरो-ऐशियाई चक्र। इस पुस्तक में चक्रों के आधार पर भाषा परिवारों का विवेचन किया गया है।

* सामी शब्द का ऐतिहासिक विवेचन आगे सामी-हामी शाखा के विवेचन के साथ दिया गया है। हजरत नोह के पुत्र सेम व हेम के नाम से दो भाषा-समूह प्रसिद्ध है। सामी-समूह सेम के नाम पर है और हामी हेम के नाम पर।

१— अर्थावयव (अर्थतत्व) सामी भाषाओं में धातुरूप व तीन व्यञ्जनों का बना होता है। यथा—कुल्ल, क़तूल।

२—सम्बन्धावयव (सम्बन्धतत्व) का भाव उपसर्ग या प्रत्यय से प्रकट होता है। यथा—तक़त्ब, इनकतव। यहाँ 'त' और 'इन' के योग से सम्बधावयव प्रकट होता है।

३—इन भाषाओं में 'त्' या 'अत्' स्त्री प्रत्यय जोड़ कर लिङ्ग भेद करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। यथा— इब्न = बेटा, बिन्त = बेटी।

४—ये भाषाएँ समासहीन व पद-क्रम में आर्य-भाषाओं से उल्टी हैं।

५— इन में कर्त्ता, कर्म और सम्बन्ध ये तीन ही विभक्तियां हैं। यथा- अब्द, अब्दी, अब्दा। ये विभक्तियां प्रत्यय जोड़ कर बनाई जाती हैं।

६— इन भाषाओं में दो ही काल होते हैं- अपूर्ण और पूर्ण। यथा- न- क़ुतुलु (हम मारते हैं) क़तल-अत् (उसने मारा) अपूर्ण में उप-सर्ग स्वरूप और पूर्ण में प्रत्यय रूप 'ने' और 'अत्' जोड़े गये हैं।

इस भाषा - समूह का स्थान आर्य-परिवार से दूसरे स्थान पर है। यक्कदी, अरमी, फिनीशी, यहूदी, अरबी और हब्शी इस भाषा-समूह का ही भाषाएँ हैं।

(२) उराल-अल्ताई भाषा समूहः—

विशेषता—

(क) इस समूह की भाषाओं के पदों में योगिक प्रक्रिया मिलती है। इसके अनुसार स्थायी धातु में एक या अनेक अस्थाई प्रत्यय एक के बाद एक जुड़ते रहते हैं।

(ख) स्वर की अनुरूपता है।

(ग) सम्बन्धवाचक सर्वनामों का प्रत्यय जोड़ना इस समूह की विशेषता है।

(घ) इस समूह की दो शाखाएं हैं - (१) उराल * और (२)- अल्ताई ‡।

उराल शाखा— में फिनी-उग्री और समोयार मुख्य भाषाएँ हैं।

अन्ताई शाखा—में मंगोली तुंगूजी और तुर्की मुख्य भाषाएँ हैं।

(३) चीनीभाषा समूहः—

विशेषता—

(क) इन भाषाओं में एकाक्षर शब्द होते हैं।

(ख) शब्द दो प्रकार के होते हैं— (१) अर्थहीन और (२) अर्थवान। अर्थहीन शब्द अर्थवान शब्दों के सम्बन्ध-तत्व का काम करते हैं।

(ग) वाक्य में शब्दों के स्थान से ही उनकी विशेषता का ज्ञान होता है।

(घ) ये भाषाएँ वियोगावस्था की हैं।

(ङ) इन भाषाओं में सुर-भेद का बाहुल्य है।

(च) इन भाषाओं में व्याकरण का अभाव है। इस समूह की अनामी*, थाई, तिब्बती-ब्रह्मी, मुख्य मुख्य भाषाएँ हैं और मंदारी व कंटूनी प्रसिद्ध बोलियाँ।

---

* पर्वत का नाम है यह पर्वत यूरोप व ऐशिया की सीमा का विभाजक है।

‡ यह भी एक पर्वत है। जो मध्य एशिया के ऊपरी भाग में है।

* कुछ विद्वान् इसे चीनी भाषा समूह से अलग रखते हैं।

(४) काकेशी भाषा समूह :—

विशेषता—

(क) इस समूह के दो भाग हैं- (१) उत्तरी काकेशी (२) दक्षिणी काकेशी।

(क) उत्तरी काकेशी भाषा-समूह में व्यंजनों की अधिकता और स्वरों की कमी है।

(ख) संज्ञा के ६ लिङ्ग माने जाते हैं।

(ग) पदरचना बहुत जटिल है।

(घ) साहित्य व लिपिहीनता इनका मुख्य लक्षण है।

दक्षिणी काकेशी में साहित्य भी और लिपी भी। इस वर्ग की मुख्य बोली 'गार्जी' है।

परिवारमुक्त भाषाएं

इन समूहों के अतिरिक्त यूरेशियाई परिवार के भूभाग में कुछ ऐसी प्राचीन व नवीन भाषाएं भी हैं जिनका किसी समूह में समावेश नहीं होता। ये स्वतंत्र भाषाएं इस प्रकार हैं:—

[प्राचीन]

(क) सुमेरी (ख) मितानी (ग) कोस्सी (घ) वन्नी (ङ) एलामी (च) हिट्टाइट-कप्पडोसी और (छ) एमस्कुन।

[नवीन]

(क) जापानी, (ख) कोरियाई, (ग) ऐनू, (घ) हाईपरबोरी (ङ) बास्क।

(ख) अमरीकी चक्र

इस चक्र में उत्तरी-दक्षिणी अमेरिका तथा मध्य अमेरिका भाग की सभी भाषाओं का समावेश किया गया है। अमेरिका

के मूल निवासी पहले लिखा नहीं करते थे रंग विरंगी रस्सियों में गांठें डाल कर, पत्थर व घोंघों पर निशान डाल कर अथवा चित्र बनाकर अपने भाव प्रकट करते थे । अमेरिकी चक्र में मेक्सिको के आसपास की नहूअत्ल और मय दो ही भाषाएँ ऐसी हैं जिनमें कुछ लिपि और साहित्य दोनों मिलते हैं ।

विशेषता :—

(क) इस चक्र की भाषाओं में क्लिक और महाप्राण ध्वनियाँ अधिक हैं ।

(ख) ये सब योगात्मक अश्लिष्ट अवस्था की हैं । कभी-कभी पूरा-पूरा वाक्य ही लम्बे शब्द द्वारा व्यक्त होता है । यथा—नधोलिनन *(हमारे लिये डोंगी लाओ) । कभी-कभी एक दर्जन तक शब्द एक पद में आजाते हैं ।

(ग) इन भाषाओं में तुलनात्मक व्याकरण का अभाव है ।

इस चक्रकी भाषाएँ दो भागों में बांटी जाती है --(१) उत्तरी वर्ग (२) दक्षिणी वर्ग ।

उत्तरी अमेरिका की भाषाएँ इस प्रकार हैं :—

भाषा	स्थान
एक्सिमो	ग्रीनलेण्ड में
अथवस्की	कनाडा में
अल्गोनकिन	संयुक्तराज्य में
नहुअत्ल (प्राचीन)	मेक्सिकोमें
अजतेक् (नवीन)	"
मय	युकतण में

* यह चेरोकी नामक भाषा का उदाहरण है । इस पद में तीन शब्द है- 'नतेन' (लाओ) 'अमोखोल' (नाव, डोंगी) और 'निन' (हमको) ।

दक्षिणी अमेरिका की भाषाएँ इस प्रकार हैं :—

भाषा	स्थान
करीबक, अरोवक	उत्तरीप्रदेश में
गुअर्नी-तुपी	मध्यप्रदेश में
अरंकन, कुइचुआ	पश्चिमीप्रदेश में
चको, तियरादेलफुगो ‡	पेरू-चिली में

(ग) प्रशान्त महासागरीय चक्र

इस चक्र की भाषाएँ मेदागास्कर से ईस्टर द्वीप तक बोली जाती हैं। इस चक्र की भाषाओं के नाम भौगोलिक आधार पर रक्खे गये हैं।

विशेषता—

(क) इस चक्र की भाषाओं में ध्वनिभिन्नता रहते हुए भी पदरचना की समता पाई जाती है।

(ख) धातु द्वयक्षरी होते हैं। बलाघात प्रायः प्रथम अक्षर पर होता है।

(ग) क्रियाएँ उपसर्ग, प्रत्यय व मध्य विन्यस्त प्रत्यय वाली होती हैं; और संज्ञाएँ लिङ्ग-भेद रहित होती हैं।

इस चक्र की भाषाओं को पांच शाखाओं में बांटा जाता है :-

१- मलाया (इन्डोनेशिया) शाखा
२- मलेनेशिया शाखा
३- पालीनेशिया शाखा
४- पापुआद्वीपी शाखा
और ५- आस्ट्रेलियन शाखा।

प्रथम तीन शाखाएँ संयोगात्मक श्लिष्ट अवस्थाकी हैं। इन तीनों शाखाओं का समान लक्षण 'अभ्यास' है। अभ्यास

---
‡ यह भाषा संसारभर में संस्कृतिहीन भाषा है।

का अर्थ है किसी शब्द के वज़न पर शब्द बनाना। यथा-मलाई भाषा में रज (राजा) ; और रज-रज (बहुत से राजे) पालीनेशियन भाषा में यथा- हैरे (चलना) ; और हैरे-हैरे (ऊपर नीचे चलना)।

[घ] अफ्रीकी चक्र

इस चक्र में चार शाखाएँ हैं :—

१-- बुशमैन शाखा

२-- बांटू शाखा

३-- सूडान शाखा

और ४-- सामी-हामी शाखा

ये सारी भाषाएँ अमेरिकी चक्र की भाषाओं से उन्नत और समृद्ध हैं। जब से इस महाद्वीप में अंग्रेजों का पदार्पण हुआ है अंग्रेजी मिश्रित नीग्रो बोलियाँ काम में आने लगी हैं एवं महाद्वीप के उत्तर और मध्य भाग में अरबी बोली का बोलबाला है। वैसे अधिकांश अफ्रीका में 'हाउसा, भाषा चलती है।

बुशमैन शाखा में कोई साहित्य नहीं केवल कुछ ग्रामगीत हैं। इस शाखा पर सूडान व बांटू शाखाओं का स्पष्ट रूप में प्रभाव अवगत होता है।

विशेषता :—

(क) बुशमैन शाखा संयोगात्मक अश्लिष्ट आकृति की है।

(ख) इस शाखा में पाँच क्लिक ध्वनियाँ हैं :— १-दन्त्य, २-ओष्ठ्य, ३-मूर्धन्य, ४-तालव्य और पार्श्विक।

(ग) इस शाखा में लिङ्ग नहीं होते।

(घ) यह शाखा प्राणिवर्ग और अप्राणिवर्ग दो वर्गों में बँटी हुई है।

इसी शाखा के अन्तर्गत होटेंटांट भाषा है। इस भाषा में तीन

वचन होते हैं, और होटेटांट आकृति में एकाक्षरी भाषा है।

बांटू शाखा

ये शाखा दक्षिणी अफ्रीका में भूमध्य रेखा के नीचे के भाग में फैली हुई है। इस शाखा में १५० के लगभग भाषाएं हैं। इनको तीन समूहों में बाँटा जाता है:—

१— पूर्व में — क़ाफिर और ज़ुलू।
२— मध्यव में — सेमुतो
और ३— पश्चिम में — फागो।

विशेषता —

(क) ये सब संयोगात्मक अश्लिष्ट आकृति की हैं।
(ख) इन में पद उपसर्ग जोड़कर बनाये जाते हैं। यथा-कु उपसर्ग जोड़ कर कुति (उसको) कुनि (उनको) और कुजे (उसको)।
(ग) ये भाषाएं सुनने में बड़ी मधुर लगती हैं।
(घ) इन में लिङ्ग का बिल्कुल अभाव है।
(ङ) इन में एक वचन के लिये उपसर्ग लगाया जाता है, और बहुवचन में व जोड़ा जाता है। यथा लव (तह-करना) लव-लव (बार-बार तह करना)।

सूडान शाखा

अफ्रीका में भूमध्य-रेखा से उत्तर, पश्चिम से पूर्व तक यही शाखा फैली हुई है। इस शाखा में ४३५ भाषाएं हैं।

विशेषताः—

[क] इन में चीनी की भाँति सुर-भेद से अर्थभेद होता है। और संज्ञा व क्रिया का भेद वाक्य में शब्द के स्थान से ज्ञात होता है।
[ख] इन भाषाओं में उपसर्ग और प्रत्यय का नितान्त

अभाव है।

[ग] ये सब वियोगात्मक आकृति की हैं।

[घ] इन में लिङ्ग-भेद नही है। नर व मादा शब्द जोड़ कर लिङ्ग भेद किया जाता है

[ङ] वचन भेद भी नही है, आ का ओ करके वचन भेद किया जाता है। यथा - रार = [जङ्गल]रोर =(बहुत-से जङ्गल) इत्यादि।

[च] इन में वाक्य एक क्रिया व एक संज्ञा के ही होते है।

[छ] इन के मुहावरो को ध्वनि चित्र, शब्दचित्र क्रिया विशेषण आदि कहते है। यथा इन भाषा का जीकक (सीधे चलना) जो त्यत्य (जल्दी जल्दी चलना) इत्यादि। इसी, प्रकार अन्य मुहावरे भी है।

इस शाखा की चार उपशाखाएं है:—

१— सेनेगल

२— ईव

३— मध्य अफ्रीकी समूह

और ४— नील नदी के ऊपरी भाग की बोलियां।

इस शाखा की ४३५ भाषाओं में से केवल वाई, मोस, कनूरी, हाउस और फ्यूल ये चार पांच भाषाएं ही लिपि बद्ध है।

सामी–हामी शाखाएं

(सामी)

हज़रत नौह के ज्येष्ठ पुत्र सेम, अरब, असीरिया और सीरिया निवासियों के मूल पुरुष थे, और इन के छोटे भाई हेम मिश्र, फोनोसिया और इथियोपिया आदि के लोगो के पुत्र थे। इन्ही दोनों के नामसे सामी-हामी नाम के दो भाषा परिवार प्रसिद्ध

हैं। सामी परिवार की भाषाएँ वैसे तो एशिया हीं में बोली जाती हैं, परन्तु अरबी जो इस परिवार की भाषा है उत्तरी अफ्रीका में भी बोली जाती है। अल्जीरिया, मोरक्को एवं हब्शी राज्यों की भाषा अरबी ही है। इसे सामी भाषा भी कहते हैं। सामी-हामी शाखाओं की भाषाओं में बहुत साम्य है। इन्हे एक ही शाखा में भी माना जा सकता है। दोनों ही समूहों में सर्वनाम व संज्ञा के बहुवचन एकसे हैं। लिङ्ग में भी दोनो में समता है। 'त' प्रत्यय लगाकर स्त्रीलिङ्ग बनाने की पद्धति दोनो में समान है। केवल सामी शाखा की हामी शाखा से विशेषता इस बात में है कि सामी में अक्षर, धातु और स्वर व्यत्यय है जो कि हामी शाखा की भाषाओं में नही है।

(हामी)

इस शाखा की पांच विशेषताएँ हैं:—

(क) पद रचना में प्रत्यय व उपसर्ग दोनों का प्रयोग होता है।

(ख) संज्ञापदों में उपसर्ग व क्रियापदों में प्रत्यय का प्रयोग होता है।

(ग) क्रियाओं में काल बोध का प्रायः अभाव-सा ही है।

(घ) लिङ्ग भेद स्त्री-पुरुष के भेद से न होकर प्रायः छोटी-बड़ी वस्तु के भेद से होता है। एवं पुल्लिङ्ग का उच्चारण कंठ्य से और स्त्रीलिङ्ग का उच्चारण दन्त्य अक्षरसे होता है यथा— कंक (तेरा) तंते (तेरी)।

(ङ) केवल इस शाखा की एक भाषा (नामा) में द्विवचन का प्रयोग भी चलता है।

(च) ध्रुवाभिमुख नियम इस शाखा की मोटी विशेषता है। ध्रुवाभिमुख नियम का अर्थ यह है कि बहुवचन में लिङ्ग भेद होजाता है।

(छ) हामी भाषाओं में विभक्तिसूचक चिह्न नहीं हैं।

आ

(आर्य परिवार या भारोपीय परिवार)

इस परिवार का ऐतिहासिक व सांस्कृतिक महत्व संसार के अन्य भाषा परिवारों में श्रेष्ठ है। इस परिवार की भाषाएं प्रायः सारे यूरोप, अमेरिका, ईरान व अर्मीनिया में तथा अफ्रीका के दक्षिण-पश्चिम के कोने में बोली जाती हैं। इस परिवार के बोलने वालों की संख्या, क्षेत्रफल व साहित्य सभी बातों को देखते हुए इस का स्थान प्रमुख माना जाता है। इसी परिवार की कुछ भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से भाषा विज्ञान का अविर्भाव हुआ है।

इस परिवार के पहले कई नाम पड़े। इन नामों में से कुछ नाम इस प्रकार हैं:—

१—इन्डो-जर्मनिक
२—इन्डो-कैल्टिक
३—इन्डो-यूरोपियन

किन्तु, सरलता और छोटेपन की दृष्टि से 'आर्य-परिवार' नाम पड़ा जिसे सभी विद्वानों ने पसन्द किया है।

आदिम भाषा और आर्य परिवार की ध्वनियां

आर्य-परिवार की प्राचीन व अर्वाचीन भाषाओं का सूक्ष्म अध्ययन करने से यह कल्पना होती है कि इन सब के आरंभ में कोई एक मूल भाषा अवश्य रही होगी। संस्कृत अवेस्ता, ग्रीक व लैटिन के सब से पुराने लेखों द्वारा इन भाषाओं का प्राचीन स्वरूप मिलता है, उससे ही इस आदि भाषा की कल्पना हुई है। इन भाषाओं की तुलना से ज्ञात हुआ कि आदिम आ

भाषा में अमुक-अमुक ध्वनियां, सन्धियां, संज्ञा, सर्वनाम आदि चालू रहे होंगे क्योंकि निम्न कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट है।

सं०	ग्री०	अंग्रेजी	गाथिक
पितर्	पतरे	फॉदर	फादर

इन शब्दों से सिद्ध होता है कि आदिम भाषा में (प्) ध्वनि अवश्य रही होगी। इस आधार पर यह ध्वनि नियम बना कि संस्कृत, ग्रीक और लेटिन में जहाँ (प्) होगा, जर्मन समूह वाली भाषाओं में वहाँ (क्) ध्वनि रही होगी।

यूरोप की समस्त भाषाओं में से ग्रीक भाषा का भारत ईरान भाषा-वर्ग से घनिष्ट सम्बंध है। ग्रीक भाषा के शब्दों के विवेचन से तथा ग्रीक और संस्कृत की ध्वनियों व व्याकरणों की परस्पर तुलना से बड़ा कुतूहल होता है। इस तुलना से भारत यूरोपीय [आर्य परिवार का] भाषाओं की मूल भाषा के स्वरूप के निर्णय में बड़ी भारी सहायता मिलती है। जहाँ तक स्वरों का सम्बध है ग्रीक भाषा ने प्राचीन मूल भाषा के स्वरों को बहुत अधिक मात्रा में सुरक्षित रखा है। उदाहरणार्थ मूल भाषा के संध्यक्षर [ए, ओ, ऐ, औ,] संस्कृत और लैटिन में असंध्यक्षर [अ, इ,] की तरह उच्चरित होने लगे थे। किन्तु

※ इस परिवार के अन्तर्गत अन्य विद्वानों के मतानुसार निम्न उपपरिवार सम्मिलित हैं :— १— भारती आर्य भाषा वर्ग, २— ईरानी भाषा वर्ग ३ — अर्मीनियन भाषा, ४— ग्रीक भाषा वर्ग, ५— ऐल्बैनिअन, ६ — इटैलिक भाषा वर्ग, ७ — केल्टिक भाषा वर्ग ८— टयूटानिक या जर्मनिक भाषा वर्ग ६— बाल्टिक स्लैवोनिक भाषा और १० — टोखारिश भाषा।

ग्रीक में ये ज्यों के त्यों सुरक्षित रहे।

परन्तु, व्यंजन ग्रीक में बहुत कम सुरक्षित रहे। इसका सबसे जीवित उदाहरण मूल भाषा के Gh, Dh, Bh के स्थान में ग्रीक के Kh (x) Th (E) Ph (O) का हो जाना है। संस्कृत में इन में परिवर्त्तन नहीं होता।

संस्कृत	ग्रीक
भरामि	Phero
धूमः	Thumos
दीर्घः	Dolikhos

आदिम भाषा या मूलभाषा में दो या अधिक व्यञ्जन एक साथ आ सकते थे, पर दो या अधिक मूल स्वर नहीं। अंतःस्थ वर्ण (स्वर या व्यंजन के रूप मे) अन्य व्यंजनों या स्वरों के साथ में आ सकते थे।

पदरचना

आदिम आर्य भाषा के पद में तीन अंश रहे होंगे—धातु, पूर्वप्रत्यय और परप्रत्यय। इनमें से धातु तो सभी में अवश्य ही होती थी। यथा 'दिश' में केवल धातु है, 'सुजौ' में धातु और परप्रत्यय एवं 'मनस' में धातु और (पूर्वप्रत्यय) इसके अतिस्वप्नः रिक्त" में तीनों हीं अंश हैं। मूल भाषा में संज्ञा, क्रिया, क्रिया-विशेषण, और समुच्चयादि बोधक का भी प्रयोग होता रहा होगा। साथ ही समास, स्वरक्रम और सुर का भी प्रयोग चलता था। सुर पद के किसी भी भाग—पूर्वप्रत्यय या परप्रत्यय में हो सकता था। मूल भाषा के तीन मूल स्वर (अ, एॅ ऑ) ह्रस्व, और (आ, ए, ओ) दीर्घ के स्थान पर संस्कृत में केवल अकार (ह्रस्व और दीर्घ) मिलता है। इससे स्वरक्रम समझने में कठिनाई पड़ती है। वैसे गुण और वृद्धि नाम की

संधियों में संस्कृत में भी स्वर-क्रम मिलता है। ग्रीक और लैटिन में तीनों मूल स्वर मिलते हैं। ग्रीक पदों में 'ए' वर्तमान सूचक और 'ओ' भूतकाल सूचक हैं।

मूलभाषा की विशेषताएँ—

(क) आदिम या मूल भाषाएँ श्लिष्ट संयोगात्मक हैं।

(ख) पर प्रत्ययों का बाहुल्य है, और पर प्रत्ययों से ही सम्बन्धावयव (सम्बन्धतत्व) का बोध भी होता है।

(ग) पद के तीन अंश होते हैं।

(घ) धातु का अभ्यास मिलता है।

(ङ) उपसर्ग का प्रयोग मिलता है।

(च) मध्यप्रत्यय का अभाव है।

(छ) समास, स्वरक्रम, और सुर में मुख्य-लक्षण दिखाई पड़ते हैं।

मूल भाषा भाषी

संस्कृत, ग्रीक, टोखारी, अर्मीनी, ऐल्बेनी, केल्टी, बाल्टी, स्लावी, जर्मनी, ईरानी जब इन १० भाषाओं का मूल भाषाओं से सम्बन्ध है तो आदिम भाषा-भाषियों के मूल निवास के निर्णय में इन भाषाओं का भी ध्यान रखना पड़ेगा केवल आर्यों का ही ध्यान रखने से काम चलने का नहीं।

पश्चिमी विद्वानों ने इन सब भाषाओं के साम्य का अध्ययन करके मध्य-एशिया* को मूल भाषा भाषियों का मूल स्थान माना है। किसी-किसी ने इसके विरोध में यूरोप में मूलस्थान होने की कल्पना की है। हर एक ने मूलपुरुष होने का श्रेय

*इस सम्बन्ध में लोकमान्य तिलक का मत उत्तरी ध्रुव के पक्ष में है एवं एक अन्य बंगाल के युवक विद्वान का मत सारस्वत प्रदेश (भारत) के ही पक्ष में है।

लेने के लिये अपने-अपने देश को मूल-स्थान मानने की भी चेष्टा की है। इतिहास ने इस प्रश्न को और भी दलदल में डाल दिया है। ई० पू० ५००० के आस-पास आर्यों की स्थिति मेसोपोटेमिया में पाई जाती है। १४०० ई० पू० के 'बोगाज़कोई' लेख से आर्यों का प्रथम सर्वथा स्पष्ट उल्लेख है। इस लेख में मितांनी जाति के शासकों मर्यन्नि (सं० मर्य), तथा इन्दर (इन्द्र), मित्तर (मित्र) उरुवण (वरुण) आदि देवताओं के नाम आये हैं। इससे सिद्ध होता है कि उस समय आर्य जाति की कोई शाखा ऐशियामाइनर में थी, और यही स्थान आर्यों का मूल स्थान था। प्रो० सुनीति कुमार ने ब्रेंडेस्टाइन महोदय के ही मत का समर्थन करते हुए उराल पर्वत के दक्षिण प्रदेश को ही मूल स्थान माना है।

मूल लोगों का नाम

उराल पर्वत के दक्षिण में रहने वाले ये मूल आर्य(वीरोस) नाम से प्रसिद्ध थे। संस्कृत में 'वीर' जर्मनी में 'वेर' प्राचीन आइरी भाषा में 'फेर' होने से ज्ञात होता है कि इन सब शब्दों का मूल स्थान एक ही था और इसके उच्चारण कर्त्ता भी एक ही जाति के थे। इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उराल के दक्षिणी मैदान में अश्व [घोड़ा] वीरों को मिला, और इसे उन्होंने सर्व प्रथम शिक्षित बनाकर पालतू बनाया, और इसी से फिर वे सवारी का काम लेने लगे।

इतिहास की इस उपलब्ध सामग्री के आधार पर अनुमान किया जाता है कि ये ही वीर आरंभ में दो शाखाओं में बँटकर ईरान व भारत में तथा कुछ पश्चिम की ओर पोलेण्ड में जा-बसे। ये सारी घटनाएं ईसा से अनुमानतः २५००-२००० वर्ष पूर्व हुई होंगी।

वेद की ऋचाओं में घोड़े (अश्व)❀ का वर्णन प्रचुर मात्रा मे हुआ है। घोड़े को घुमाकर दिग्विजय करने वाली कथा को उक्त ऋचाओं का पूर्ण बल प्राप्त है। मेसोपोटेमियां में बैल, ऊंट व गधे काम में आते थे। घोड़े वाले लोगों का बोलबाला इसीलिये होगया होगा कि घोड़ा इन सभी जानवरों से तेज़ जानवर है।

(फिर 'ग्वोडस' शब्द का विवेचन भी बड़ा रोचक ठहरता है। आर्यो से अश्व की भांति 'ग्वोडस' का भी बड़ा भारी सम्बन्ध था। सुमेरी भाषा में 'ग्वोडस' अर्थात् गाय के लिये 'गुद' शब्द मिलता है। संक्षेप में इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि ई० पू० १००० तक पश्चिम में बलकान और ग्रीक तक एवं पूर्व में ईराक व भारत तक आर्यो का फैलाव होगया था। आर्यों की भाषा, सभ्यता, संस्कृति और रहन-सहन सभी इस समय दूर-दूर फैल चुके थे।)

जर्मन विद्वान श्लाइखर के मतानुसार आदिम भाषाकी दो निम्न लिखित शाखाएँ हुईं:—

१—स्लावी जर्मनी (एक ओर गई)

और २—ईरानी-हिन्दी ग्रीक-इटाली, केल्टी दूसरी ओर।

वर्त्तमान भाषाओं का चक्र देखकर स्पष्ट कहा जासकता है कि संस्कृत आदिम भाषा के अधिक निकट पड़ती है। पर पद रचना की दृष्टि हिट्टाइट संस्कृत से भी अधिक निकट ठहरती है, किन्तु ध्वनिसमूह, वाक्यविन्यास आदि की दृष्टि से हिट्टाइट मूल भाषा से दूर हो जाती है। फारसी और जर्मनी में से जर्मनी मूलभाषा के अधिक निकट है। लिथुऐनी में भी

❀ श्री सक्सेना का सामान्य भाषा विज्ञान। व कई अन्य विद्वानों का भी यही मत है।

द्विवचन के रूप कुछ कुछ पहले तक मूलभाषा के चिह्नरूप में मौजूद थे पर अब उनका प्रायः लोप होगया है।

केन्टुम् व शतम् वर्ग

अन्य परिवारों को छोड़कर आदि आर्य भाषाओं की यदि परस्पर तुलना की जाय तो उन्हें दो समूहों में या वर्गों में बांटा जा सकता है:—

१--शतम् वर्ग
और २--केन्टुम् वर्ग।

ये दो समूह जिस विशेषता के आधार पर किये जाते हैं वह विशेषता, उन शब्दों में पाई जाती है जिनमें, एक ही वर्ण के स्थान में, ग्रीक भाषा में क् और संस्कृत में श् का प्रयोग होता है। यथा।

संस्कृत	ग्रीक
शतम्	He-Katon
शुनेः	Kunos
दश	Deka
अश्मो (अश्मन्)	Kmon
ददर्श	Dedorka

इस उच्चारण सम्बन्धी विशेषता के नियम का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जासकता है :—

भारत यूरोपीय (आर्य परिवार) समूह की मूल भाषा के कुछ कण्ठ्य वर्ण (क् आदि) इस भाषा परिवार के एक भाग में तो एक उष्मा (श् आदि) के रूप में पाये जाते हैं परन्तु, दूसरे भाग में कण्ठ्य-स्पर्श के ही रूप में। इस नियम का उदाहरण भिन्न-भिन्न भाषाओं में 'सौ' के अर्थ में प्रयुक्त शब्द मिलता है।

इस नियम के अनुसार भारतीय, ईरानी, अर्मीनी, वाल्टिक-स्लावोनिक और ऐराबेनियन भाषाएँ शतमवर्ग में आती हैं।

और

ग्रीक, इटेलिक, केल्टिक, ट्यूटानिक, व टोखारिश भाषाएँ केण्टुम्-वर्ग में परिगणित होती हैं।

शतम् वर्ग

संस्कृत- 'शतम्', प्राकृत—'सदं' 'सअं', हिन्दी—'सौ'
जिन्द —'सतम्'—फारसी 'सद'
लिथुआनियन Szimatas (Sz = श)
बल्गेरियन—(प्राचीन) Suto
रूसी—Sto

केण्टुम्–वर्ग

ग्रीक ❀ में Hekaton, लैटिन में Centum, इटालियन में Cento स्पेनिश में Ciento, फ्रेन्च में Ceut, आइरिश में Ceud, गेलिक में Ceud, ब्रेटन में Kant, गाथिक में Hund + जर्मनीमें Hunt, टोखारिश में Kandh·

भारतयूरोपीय (आर्य) परिवार की मूल भाषा में जहाँ स्वरात्मक 'न्' या म्' पाया जाता है वहाँ केण्टुम वर्ग में अनुनासिक स्पर्श देखा जाता है, किन्तु सतम्-वर्ग में अनुनासिक का लोप होकर केवल निरनुनासिक स्वरशेष रह जाता है। यथा—

संस्कृत	लैटिन
दश	Decem इत्यादि।

❀ ग्रीक में 'C' का उच्चारण (क) का होता है। + ट्यूटानिक भाषाओं में ऐसे उच्चारणों का 'ह' भारत यूरोपीय 'क' का स्थानीय होता है।

द्विवचन के रूप कुछ कुछ पहले तक मूलभाषा के चिह्नरूप में मौजूद थे पर अब उनका प्रायः लोप होगया है।

केन्टुम् व शतम् वर्ग

अन्य परिवारों को छोड़कर आदि आर्य भाषाओं की यदि परस्पर तुलना की जाय तो उन्हें दो समूहों में या वर्गों में बांटा जा सकता है:—

१—शतम् वर्ग
और २—केन्टुम वर्ग।

ये दो समूह जिस विशेषता के आधार पर किये जाते हैं वह विशेषता, उन शब्दों में पाई जाती है जिनमें, एक ही वर्ण के स्थान में, ग्रीक भाषा में क् और संस्कृत में श् का प्रयोग होता है। यथा।

संस्कृत	ग्रीक
शतम्	He-Katon
शुनेः	Kunos
दश	Deka
अश्मो (अश्मन्)	Kmon
ददर्श	Dedorka

इस उच्चारण सम्बन्धी विशेषता के नियम का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जासकता है:—

भारत यूरोपीय (आर्य परिवार) समूह की मूल भाषा के कुछ कण्ठ्य वर्ण (क् आदि) इस भाषा परिवार के एक भाग में तो एक ऊष्मा (श् आदि) के रूप में पाये जाते हैं परन्तु, दूसरे भाग में कण्ठ्य-स्पर्श के ही रूप में। इस नियम का उदाहरण भिन्न-भिन्न भाषाओं में 'सौ' के अर्थ में प्रयुक्त शब्द मिलता है।

इस नियम के अनुसार भारतीय, ईरानी, अर्मीनी, बाल्टिक-स्लावोनिक और ऐरावेनियन भाषाएँ शतमवर्ग में आती हैं।

और

ग्रीक, इटेलिक, केल्टिक, ट्यूटानिक, व टोखारिश भाषाएँ केण्टुम्-वर्ग में परिगणित होती हैं।

शतम् वर्ग

संस्कृत- 'शतम्', प्राकृत—'सदं' 'सअं', हिन्दी—'सौ'
जिन्द —'सतम्'—फारसी 'सद्'
लिथुआनियन Szimatas (Sz = श)
बल्गेरियन—(प्राचीन) Suto
रूसी—Sto

केण्टुम्—वर्ग

ग्रीक ❀ में Hekaton, लैटिन में Centum, इटालियन में Cento स्पेनिश में Ciento, फ्रेन्च में Ceut, आइरिश में Ceud, गेलिक में Ceud, ब्रेटन में Kant, गाथिक में Hund ✢ जर्मनीमें Hunt, टोखारिश में Kandh

भारतयूरोपीय (आर्य) परिवार की मूल भाषा में जहाँ स्वरात्मक 'न्' या म्' पाया जाता है वहाँ केण्टुम वर्ग में अनुनासिक स्पर्श देखा जाता है, किन्तु सतम्-वर्ग में अनुनासिक का लोप होकर केवल निरनुनासिक स्वरशेष रह जाता है। यथा—

संस्कृत	लैटिन
दश	Decem इत्यादि।

❀ ग्रीक में 'C' का उच्चारण (क) का होता है। ✢ ट्यूटानिक भाषाओं में ऐसे उदाहरणों का 'ह' भारत यूरोपीय 'क' का स्थानीय होता है।

आर्य परिवार की कुछ भाषाओं का संक्षिप्त परिचय व भारतीय आर्य भाषाओं का अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भेद।

१: केल्टी —

इस समूह की भाषाओं का क्षेत्र यूरोप के निम्न स्थानों में आज से लगभग २००० वर्ष पहिले था —

१- आयर्लैंड, २- ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस के कुछ भूभाग, बल्जियम, स्विटज़रलैण्ड, जर्मनी, इटली, ग्रीस आदि।

२: इटाली—

इस समूह की प्राचीन भाषाओं की वंशजा लैटिन भाषा है। लैटिन से ही स्पेनी, पुर्तगाली आदि का निकास है। लैटिन रोम की राज्य भाषा थी, और के रोम विकास के साथ-साथ सारे यूरोप में विकसित हुई। लैटिन का साहित्यिक व धार्मिक मूल्य संस्कृत के ही समान माना जाता है। इटाली–सिसिली, सार्डिनिया, कार्ज़िका में बोली जाती है।

(२) रूमानी–रूमानिया, ट्रांसिल्वेनिया व ग्रीस के कुछ भागों की बोली है।

(३) प्रोवेंशल–फ्रान्सके दक्षिणी भाग की बोली है।

(४) फ्रेन्च–फ्रान्स की मुख्य भाषा है।

(५) पुर्त्तगाली–पुर्त्तगाल की भाषा है।

(६) स्पेनी–स्पेन की भाषा है।

३: ग्रीक—

इस शाखा के अन्तर्गत बहुत सी बोलियाँ थीं। इन बोलियों में रोटिक और डोरिक प्रधान थीं। संस्कृत से ग्रीक बहुत कुछ मिलती-जुलती है। परस्मैपद, आत्मने पद, अव्यय बाहुल्य, सुर आदि बहुत सी बातें दोनों में इकसार हैं।

४ः जर्मनी—

इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम कैल्टों ने किया था। इस शाखा का दूसरा नाम ट्यूटानी भी है। इसे हाई और लो* दो भागों में बांटते हैं। दक्षिणी पर्वतीय प्रदेश की जर्मनी हाई और उत्तरी जर्मनी लो जर्मनी कहलाती है।

जर्मनी परिवार की भाषाएँ आर्य परिवार की अन्य शाखाओं की भांति क्लिष्ट संयोगात्मक आकृति की हैं, और वियोगात्मक होती जारही हैं। जर्मनी शाखा का महत्वपूर्ण लक्षण ध्वनि नियम है। इन ध्वनि नियमों में ग्रिम-नियम प्रसिद्ध नियम है।

५ः तोखारी—

मध्य एशिया के तुर्खान प्रदेश की भाषा है। इस पर उराल-अल्ताई परिवार की भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। इसके संख्या वाची शब्द और सर्वनाम पूर्णतः आर्य हैं।

६ः अल्बेनी—

इस भाषा का ध्वनि-समूह और रूप रचना ऐसी है कि इसे स्वतंत्र सत्ता देनी पड़ी है। यह अल्वेनिया की भाषा है।

७ः हिट्टाइट—

'वोग्गाज़ कोई' के कीलाक्षर लेखों में इसका रूप मिलता है यह आर्य वर्ग की भाषा है, क्योंकि इसमें कई बातें आर्य वर्ग से मिलतीं जुलती हैं।

८ः बाल्टी

इस शाखा में तीन भाषाएँ हैं—प्रशियई, लिथुएनी और लैटी। प्रशियाई आज वर्तमान नहीं लिथुएनी में ग्रीक की भांति सुर प्राधान्य है, द्विवचन के रूप हैं और यह लिथुआनिया

---

* हाई = उच्च जर्मनी * लो = निम्न जर्मनी।

राज्य की भाषा है। लैटी लैटविया की भाषा है। इस पर कुछ कुछ रूसी का भी प्रभाव है, क्योंकि यह भूभाग रूस में जा मिला है।

९: स्लावी—

बाल्टी और स्लावी मिलती-जुलती शाखाएँ हैं। स्लावी के तीन रूप हैं :— दक्षिण स्लावी पूर्वी और पश्चिमी स्लावी। यह बल्गेरी, यूगोस्लाविया की बोली है और सर्वो क्रोटी के नाम से भी प्रसिद्ध है।

१०: अर्मीनी—

अर्मीनी अर्मीनिया की भाषा। ईरान और अर्मीनिया का राजनैतिक सम्बन्ध रहने से इस भाषा पर ईरानी का प्रभाव पड़ा और लगभग २०००, ३००० फारसी शब्द इसमें प्रवेश कर गये।

ईरानी भारतीय शाखा

इस शाखा की ईरानी भाषा के साथ एक इतिहास जुड़ा है। इस भाषा में साहित्य रहा होगा। परन्तु इसके ग्रंथ दो बार जला डाले गये— एक बार सिकन्दर द्वारा और दूसरी बार अरबों द्वारा। इसका प्राचीन रूप पारसियों के धर्म ग्रन्थ अवेस्ता और कुछ शिला-लेखों में उपलब्ध है। ईरानी और भारतीय की प्राचीन अवस्थाओं में बहुत कुछ साम्य है। यथा—

संस्कृत- यो यथा पुत्रं तरुणं सोमं वादेत मर्त्यः

अवेस्ता- यो यथा पुथ मू तउरुनम् हओमम् वादएता मश्यो

फारसी- इस में कालाक्षरों में खुदे हुए कुछ पुराने लेख मिलते हैं। इसी का एक रूप पहलवी है। इस भाषा में अवेस्ता की टीका लिखी गई है। इसकी एक शैली में सामी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। सामी के प्रभाव से प्रभावित फारसी को 'हुज्वारेश' कहते हैं। दूसरी सामी प्रभाव से सर्वथा वंचित है, इसको पार्सी या पाजन्द कहते हैं।

अवेस्ती - पारसी धर्म ग्रन्थों की भाषा है।

दर्दी– ईरानी भारतीय शाखा की एक उप शाखा का नाम 'दर्दी' *उपशाखा है। ये भाषा पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच के क्षेत्र में बोली जाती हैं। सकी आकृति ईरानी और आर्य के बीच की है। इसी भाषा को पिशाच संज्ञा दी जाती है। दर्दी में कई समूह हैं। यथा—खोवार, काफ़िरी, और दर्दी विशिष्ट। इस भाषा में व्याकरण के प्राचीन लक्षण अधिक सुरक्षित हैं।

भारतीय [आर्य] शाखा

इस शाखा को सुविधा की दृष्टि से तीन ऐतिहासिक वर्गों में बांटा ज़ाता है : —

१– प्राचीनयुग ४०० ई० पू० तक

२– मध्ययुग ४०० ई० पू० से १००० ई० तक

और ३--वर्तमानयुग १००० ई० से अबतक

प्राचीन युग के अन्तर्गत वैदिक व लौकिक दो प्रकार की भाषाएँ मिलती हैं। धीरे-धीरे इन दोनों के भेद को मिटाने की चेष्टा की गई। इस चेष्टा के क्षेत्र में पाणिनी का स्थान महत्व का है। इस वैदिक भाषा की रक्षार्थ पद पदपाठ, क्रमपाठ, जटा व घनपाठ आदि कृत्रिम उपायों का सहारा लिया गया। धीरे-धीरे संस्कृत का जोर बढ़ा। संस्कृत के पीछे प्राकृत व पाली का युग आया। प्राकृतों के साथ-साथ मध्ययुग का आरंभ होता है। मध्ययुग भी तीन भागों में बंटा है :— आदि, मध्य और उत्तर। आदिकाल में पालि और अशोकी प्राकृत हैं। पालि को सिंहल द्वीपी मागधी भी कहते हैं। प्राकृतों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि पालि पश्चिमी प्रदेश की भाषा रही होगी।

*पैशाची प्राकृत से सम्भवतः दर्दी का सम्बन्ध है। क्योंकि दर्दी को भी पिशाच संज्ञा दी जाती है।

पालि में बौद्ध धर्म के ग्रन्थ, टीकाएँ तथा कथा-साहित्य आदि पर्याप्त मात्रा में हैं। पालि में 'स' ध्वनि का बाहुल्य और 'श' का अभाव, 'र' ध्वनि का अस्तित्व और 'ल' ध्वनि का उससे भेद ये ऐसे लक्षण हैं जो इसे पश्चिमी प्रदेश की भाषा ही सिद्ध करते हैं। * पालि के कुछ ऐसे लक्षण भी हैं जो इसे उत्तर कालीन संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत से अधिक निकट सिद्ध करते हैं।

प्राकृत के उदाहरण अशोकी लेखोंमें मिलते हैं। जैन प्राकृतों में अर्धमागधी प्रसिद्ध है। मध्ययुग के मध्य काल के अन्तर्गत जैन प्राकृतें व महाराष्ट्री आदि प्राकृतें आती हैं। प्राकृतों में शौरसेनी का बड़ा महत्व है। संस्कृत नाटकों में स्त्रीजन तथा मध्यमवर्ग की भाषा यही रही है।

शौरसेनी का मुख्य लक्षण तवर्ग के विकास में माना जाता है। दो स्वरों के वीच में स— तृ,—था का शौरसेनी में, द्—ध हो जाता है। यथा 'गच्छति' का 'गच्छदि'।

मागधी—यह मगध देश की जनपदीय भाषा थी। सिंहल आदि बौद्ध देशों में पालि को ही मागधी कहा जाता है। मागधी के मुख्य लक्षण संस्कृत ऊष्म वर्णों (श,स,ष, और है) के स्थान पर 'श' (सप्त—शत्त) 'र' की जगह 'ल' (राजा—लाजा) एवं अन्य प्राकृतों की 'ज्' ध्वनि के स्थान पर 'य्' और 'ज्ज्' तो जगह 'य्य्' आदि ती ध्वनि हो जाती में हैं।

पैशाची प्राकृत में कभी बहुत ऊंचा साहित्य था गुणाढ्य की वृहत्कथा इसी भाषा में थी। पैशाची एक प्रकार की प्राकृत है इससे इसके लक्षण प्राकृत व्याकरणों में ही मिलते हैं। पैशाची का मुख्य लक्षण यह है कि संस्कृत शब्दों में दो स्वर के वीच आने वाले सघोष स्पर्श वर्ण अघोप हो जाते हैं। यथा—गगनं

* सम्भवतः इसी कारण लोग पालि को संस्कृत के निकट रखते हैं।

कनं, मेघो-मेखो। पैशाची का एक रूप चूलिकापैशाची नाम से भी प्रसिद्ध है।

इसके अतिरिक्त प्राकृतों के शाकारी, ढक्की, शावरी चांडाली, आमीरी और अवन्ती आदि भेदों का भी उल्लेख मिलता है। ये सब मागधी की बोलियों के नाम हैं।

आधुनिक देश भाषाएं

अपभ्रंश — यह उत्तरकाल की भाषा है। अपभ्रंश के श्रीमार्कन्डेय ने तीन भेद माने हैं — नागर, उपनागर व ब्राचड़। अपभ्रंश से ही आधुनिक देश भाषाओं का उदय हुआ है। आधुनिक देश भाषाओं में :—

लँहदी— (बोलने वाले ६६ लाख) पंजाब के पश्चिम में

सिन्धी— („ „ ४० „) सिन्ध प्रान्त में

मराठी— („ „ २ करोड़ ६ लाख) महाराष्ट्र में

उड़िया— (१ क० १२ ला०) उड़िया या उत्कल की भाषा है

विहारी— (२ क० ७६ ला०) (यह मैथिली, मगही, भोजपुरी का समूह है)

वंगला— ५ क० ३५ ला०) (वंगाल प्रान्त की भाषा है इसके लिखित व उच्चरित रूप में वहुत अन्तर है

आसामी— (२० लाख (आसाम प्रान्त की भाषा है)

हिन्दी— (७ करोड़ ६४ ला०) (मध्यदेश की भाषा है, अब राष्ट्र भाषा है)

राजस्थानी— (१ क० ३१ ला०) (मारवाड़ी, मेवाड़ी, मेवाती व हाड़ौती चार भागों में बंटी है और राजस्थान प्रान्त की मुख्य भाषा है)

गुजराती— (१ क० ६ ला०) (गुजरात प्रान्त में बोली जाती है काठियावाड़ तथा कच्छ में भी चलती है)

पंजाबी— (१ कं० ३६ ला०) (पंजाब प्रान्त की भाषा है)

भीली—(२२ लाख) (मध्य भारत, खान्देश व राजपूताने के जंगलों में चलती है)

पहाड़ी—(२८ लाख) हिमालय के निचले भागों में चलती है। इनके अतिरिक्त हबूड़ी, जिप्सी व सिंहली भी इसी वर्ग के अन्तर्गत हैं।

कुछ भाषा विशेषज्ञ लोग व्याकरण व उच्चारण की समता के आधार पर इन्हें अलग-अलग समुदायों में बाँटते हैं। वे समुदाय ये हैं :—

अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग, मध्यवर्ती

डा० ग्रियर्सन महोदय ने भाषा सर्वे के समय आर्य भाषाओं को तीन शाखाओं में बांटा है :— अंतरंग, बहिरंग और मध्यवर्ती।

वर्गीकरण-वृक्ष इस प्रकार है :—

(१) बहिरङ्ग शाखा—
[क] पश्चिमोत्तर वर्ग—
१- लँहदा
२- सिन्धी
[ख] दक्षिणी वर्ग—
१- मराठी
[ग] पूर्वी वर्ग—
१- आसामी
२- बंगला
३- उड़िया
४- विहारी
(२) मध्यवर्ती शाखा—
[घ] मध्यम वर्ती वर्ग
पूर्वी हिन्दी
(३) अन्तरङ्ग शाखा

ॐ व्राचड़ अपभ्रंश का एक लक्षण आदिम त् द् ध्वनियों को ट् ड् हो जाना सिन्धी में मिलता है।

(ङ) केन्द्रवर्ग

१- पश्चिमी हिन्दी
२- पंजाबी
३- गुजराती
४- भीली
५- खान्देशी
६- राजस्थानी

(च) पहाड़ी वर्ग

१- पूर्वी पहाड़ी, या नैपाली
२- केन्द्रीय पहाड़ी
३- पश्चिमी पहाड़ी

यों १७ भाषाएँ ६ वर्गों में और तीन शाखाओं में बाँटी ई है।

इसके विपरीत डा०सुनीतकुमार चाटुर्ज्या ने सुदूर पश्चिम ौर पूर्व की भाषाएँ एक साथ नहीं रह सकती इससिद्धान्त पर ाषाओं का वर्गीकरण इस भांति किया है—

चटर्जी का वर्गीकरण वृत्त

(क) उदीच्यवर्ग
१–सिन्धी
२–लँहदा
३–पंजाबी

(ख) प्रतीच्य वर्ग
१–गुजराती
२–राजस्थनी

(ग) मध्य वर्ग
१–पश्चमी हिन्दी

(घ) प्राच्य वर्ग
१–पूर्वी हिन्दी
२–विहारी
३–बँगला
४–आसामी
५–उड़िया

(ङ) दक्षिणात्य वर्ग
१–मराठी

चटर्जी ने पहाड़ी को राजस्थानी (का ही रूपान्तर कहा है। पर निश्चित रूप सेपहाड़ी को किसी वर्ग में रख सकना सहज नहीं चटर्जी का ऐसा भी मत है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि पहाड़ी भाषाओं का एक भिन्न ही वर्ग मानना ठीक हो सकता है।

उक्त दोनों वर्गीकरणोंमें सरल सुबोध और वैज्ञानिक वर्गीकरण चटर्जी का ही है इसका कारण यही है कि सदा से मध्यदेश की ही भाषा राष्ट्रभाषा होती आई है और आज भी पश्चिमी हिन्दी जो मध्यदेशीय भाषा है राष्ट्रभाषा है। अतः उसे अर्थात् हिन्दी को ही केन्द्र मानकर उसके चारां ओर भाषाओं के वर्ग बाँधकर अध्ययन करना सुविधाजनक वैज्ञानिक सिद्ध होता है।

भारत के पाँच आर्य व अनार्य परिवार

भारत में पांच से अधिक आर्य व अनार्य परिवारों की भाषाएँ बोली जाती है। इन पाँचों परिवारों का सामान्य वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१- आस्ट्रिक (आग्नेय) परिवार—

अ- इन्डोनेशियन (मलय द्वीपी)

आ- आस्ट्रोएशियाटिक
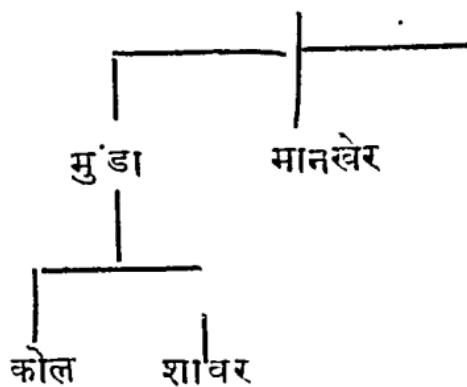
२- एकाक्षर परिवार-(चीनी तिब्बती)

अ— श्यामी चीनी

आ— तिब्बती वर्मी

३— द्राविड़ परिवार।

४— आर्य परिवार (भारत-ईरानी भाषाएँ)

अ— ईरानी शाखा

आ— दर्द शाखा

इ— भारतीय आर्य शाखा

५— विविध भाषा परिवार (अनिश्चित समुदाय)

अ— ब्रह्मदेश की अनेक भाषाएँ।

मुंडा नाम उस आग्नेय (आस्ट्रिक) परिवार की भाषा है जो पंजाब से न्यूजीलेन्ड तक उत्तर-दक्षिण; मदागासकर से ईस्टरद्वीप तक पूर्व-पश्चिम में फैला हुआ है।

मि० पेटर डब्ल्यू श्मिट ने इस परिवार की भाषाओं की खोज की। इस परिवार की भाषाएँ दक्षिणो*द्वीपों में भी फैली हुई हैं इसी से इस परिवार का नाम आग्नेय परिवार रखा गया है। भारत में इस परिवार की भाषाएँ अग्निकोण में स्थित देशों में अधिक है इससे भी इस परिवार को आग्नेय परिवार कहना ही संगत है। इस परिवार के दो बड़े स्कन्ध हैं—१ आग्नेय देशी और २ आग्नेय द्वीपी। आग्नेय द्वीपी की भी तीन शाखाएँ हैं—१ स्वर्णद्वीपी २- पायुचा द्वीपी और ३- सागर द्वीपी। आग्नेय द्वीपी की शाखा को ही मलय पात्लीनीशियन भाषा वर्ग भी कहते हैं।

आग्नेय देशी भाषाएँ भारत के कई भागों में वोली जाती हैं। मुंडा और मानख्मेर इनमें उल्लेखनीय हैं। मानख्मेर को तीन बोलियां हैं — पलौंगवा, खासी, निकोबारी। भारत की दृष्टि से आग्नेय परिवार की प्रमुख भाषा मुंडा है। यह पश्चिमी बंगाल से विहार, मध्यप्रान्त, मध्यभारत, उड़ीसा व मद्रास के

---

* दक्षिण की ओर आग्नेतत्त्व का प्राधान्य है, और उत्तर की ओर सोमतत्त्व का। यही कारण है दक्षिणोद्वीपों की भाषाएं आग्नेय परिवार की कहलाती हैं।

गंजाम जिले तक बोली जाती है। वैसे इसका मुख्य स्थान विन्ध्यमेखला (छोटा नागपुर, सैंथाल) प्रदेश है। मुंडा की प्रमुख बोलियां कुक्कर्, खडिया, जुआंग, शावर, गदबा आदि हैं। मुंडा भाषा भाषियों की संख्या इस समयर लगभग उन्तालीस लाख के ऊपर है। मुण्डा तुर्की की भांति प्रत्यय प्रधान भाषा है।

भारतीय भाषाओं पर मुंडा का प्रभाव

मुंडा या ध्वनि सम्बन्धी प्रभाव तो अभी विवादास्पद विषय हैं, परन्तु रूप-विकार की दृष्टि से मुंडा का भारतीयों पर प्रभाव स्पष्ट है। बिहारी भाषा की क्रियाओं की जटिल काल रचना मुंडा की ही देन है। उत्तम पुरुष के सर्वनाम के दो-दो रूप (श्रोता व वक्ता) के लिए अलग-अलग मुंडा का ही विशेष लक्षण है, और यह गुजराती व हिन्दी में भी पाया जाता है। यथा— 'अपन गय थे' और 'हम गये थे' दोनों में भेद स्पष्ट है। गुजराती में 'अमे गया हता' और 'आपणे गया हता।' इसके अतिरिक्त मुंडा के संख्या वाचक शब्द भी भारतीय भाषाओं में आये हैं। यथा—मुंडा का शब्द कुड़ी, हमारे यहां कोड़ी २० (बीस) के अर्थ में आता है। इसी प्रकार अन्य अनेक लक्षण हैं जो मुंडा व आर्य भाषाओं में समान रूप से पाये जाते हैं।

(इ)

भाषा विज्ञान की खोज का इतिहास

क—भारत का क्षेत्र

भारत में भाषा-विज्ञान का क्षेत्र उस समय पनप चला था जब पश्चिम ने घुटनों चलना भी न सीखा था। यह समय था ईसा से ८००,६०० वर्ष पूर्व। यहां वेदोंका अपने असली रूप में सुरक्षित रखने के लिए शाकल्यमुनि ने पहिले पद पाठ बनाया

फिर ब्राह्मण-ग्रन्थों में ध्वनि (शिक्षा) व व्याकरण के तत्व खोजे गये। संहिता ग्रन्थ बने व प्राति शाख्य बने। यह भारत ही है जहां श्रीयास्क ने निरुक्त द्वारा संसार में सबसे पहिले अर्थ विज्ञान का श्रीगणेश किया था। इसके पश्चात् पाणिनी ने १४ माहेश्वर सूत्रों में सारा ध्वनि विज्ञान भर दिया। भिन्न-भिन्न विभक्तियों की सिद्धि की, धातुओं की सिद्धि की। व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनी की छाप अमिट है। इसके पीछे इस क्षेत्र में नागोजी भट्ट, कय्यट, जीवसिद्धि, पंतञ्जलि, कात्यायन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आधुनिक युग में भाषा विज्ञान के क्षेत्र में निम्न सज्जनों की कीर्ति अमर है। सर्व श्री डा० सिद्धेश्वर ने दर्द भाषाओं के क्षेत्र में कार्य किया है—हीरालाल जैन ने अपभ्रंश के क्षेत्र में, बनारसीदास जैन ने पंजाबी के क्षेत्र में, धीरेन्द्र वर्मा महोदय ने ब्रज भाषा क्षेत्र में, श्री सकसेना ने अवधी के क्षेत्र में कार्य किया है। और रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर महोदय ने पश्चिमी भाषा विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन के अनुभव पर विलसन व्याख्यान माला जैसी अनुपम पुस्तक हमें दी है। इनके अतिरिक्त श्री श्यामसुन्दरदास, डा० मङ्गलदेव, डा० सान्याल एवं अन्य दो एक सज्जनों ने भी इस दिशा में पर्याप्त कार्य किया है।

ख—पश्चिम का क्षेत्र

यूरोप में भाषा पर विचार भारत की अपेक्षा बहुत पीछे आरंभ हुआ है। यूरोप की सभ्यता का केन्द्र ग्रीस देश रहा है। ग्रीस के दार्शनिक व तत्ववेत्ता श्री अरस्तु ने भाषा का विश्लेषण कर पदों में विभाजन किया था। श्री प्लेटो ने भाषा और विचार को भाषा का अन्तरङ्ग रूप माना तथा ग्रीक भाषा की सघोष व अघोष ध्वनियों का वर्गीकरण किया। इनके पीछे

श्री थिरेस ने ग्रीक भाषा का सर्व प्रथम व्याकरण बनाया। जब
सभ्यता का क्षेत्र रोम बना तो लैटिन और ग्रीक दोनों भाषाओं
का अध्ययन होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि लैटिन
का प्रभुत्व सारे यूरोप पर जम गया। इधर अठारहवीं शती में
कुछ संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद पश्चिम में पहुंचे। संस्कृत,
लैटिन और ग्रीककी समता देख कर लोगों को आश्चर्य हुआ और
आदिम भाषा की खोज की ओर संसार का ध्यान गया।

भाषा के उद्गम के विषय में दार्शनिक विद्वान् रूसो कौंडि-
लक, हर्डर व जेनिश आदि ने भिन्न-भिन्न मत स्थिर किये। इस
विषय में हर्डर महोदय की गवेषणा सर्वोत्तम मानी जाती है।
श्री हर्डर का मत है कि भाषा स्वभावतः ही मनुष्य की प्रकृति
से निकल पड़ी है। न वह ईश्वर की देन है, और न उसे किसी ने
एक साथ बैठकर बनाया है, और न वह भावातिरेक का ही फल
है। इस प्रकार श्री पं० हर्डर व पं० जेनिश पश्चिमीय भाषा
विज्ञान के आधुनिक रूप के जन्मदाता हैं। १९ वीं शती में यूरोप
का भाषा विज्ञान कुछ आगे बढ़ा। पश्चिम में इस भाषा विज्ञान
सम्बन्धी विकास में संस्कृत का ही प्रमुख हाथ रहा है। यह
निर्विवाद है। सर्व प्रथम श्री विलियम जौंस ने संस्कृत का
महत्व बतलाया था। पश्चिम के भाषा विज्ञानियों को दो भागों
में बांटा जा सकता है—(१) प्राचीन और (२) अर्वाचीन।

प्राचीन युग में

श्री फ्रेडरिक वान, श्री श्लेगेल (१७७२) श्री अडोल्फ, श्री
रेज्मस रस्क, जेकब ग्रिम, फ्रैंज बाप, पाट, मैक्समूलर, ह्विटनी
आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। जेकब ग्रिम ने भिन्न-भिन्न
भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा ध्वनि नियम बनाये हैं।
बाप ने यूरोपीय भाषाओं का अध्ययन कर संस्कृत भाषा से

तुलना की है। हम्बोलडट ने जावा की भाषाओं का अध्ययन किया हैं। मैक्समूलर महोदय ने भाषा विज्ञान पर व्याख्यान दिये हैं एवं वैदिक साहित्य पर भी प्रकाश डाला है। ह्विटनी संस्कृत भाषाओं के विशेषज्ञ वैयाकरण पंडित थे।

नवयुग में

श्री स्टाइनथले व श्री हेनरी स्वीट (महा वैयाकरण) हुए हैं। इस युग में व्याकरण व भाषा विज्ञान का केन्द्र जर्मनी में रहा। फिर यह केन्द्र फ्रान्स में पहुंच गया। सामान्य भाषा विज्ञान व अंग्रेजी भाषा विज्ञान पर विशेष कार्य करने वाले मि०ओटो जेस्परसन हैं। पश्चिमीय भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में हमारे रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर का नाम भी उल्लेखनीय है। ट्रम्प, टरटर, केन्डवेल, ग्रील आदि-आदि अनेक जर्मन व फ्रेंच विद्वानों ने इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है'

(ई)

लिपि के विकास का इतिहास

भाषा का उपयोग मनोभावों को व्यक्त करने में होता है। यह मनोभाव एक व्यक्ति द्वारा दूसरे पर प्रकट किये जाते हैं, परन्तु, इस कार्य के लिये श्रोता व वक्ता या एक देशत्व व एक कार्यत्व परमावश्यक है। जब यही कार्य किसी अन्य देशस्थ व्यक्ति के साथ करना होगा तब किसी अन्य उपाय का अवलम्बन भी आवश्यक हो जायगा। अपने भावों को भिन्न देश व भिन्न कालस्थ मनुष्य तक पहुंचाने के लिए ही मनुष्य को अपने भावों को अंकित करने की आवश्यकता हुई, और इसी आवश्यकता के मूल में लिपि के श्रीगणेश का मूल सिद्धान्त निहित है।

आरंभ में लोगों ने इस उक्त कार्य में—दूर देशस्थ मनुष्य पर भाव प्रकट करने के कार्य को—सिद्ध करने के लिये श्रोत्र-ग्राह्य शब्दों के प्रतिरूप कुछ ऐसी चीजें निकालीं जो नेत्रग्राह्य भी हो सकें। उदाहरणार्थ पीरूदेश में 'कुडपु' नाम की डोरियों में रंगबिरंगे धागों को बांधकर उनमें गांठे दे-देकर भिन्न-भिन्न भाव प्रकट किये जाते थे। कहीं-कहीं रंगों से भी भाव प्रकट किये जाते थे। यथा लाल रंग से 'सोने' और 'युद्ध' का भाव प्रकट किया जाता था। ये सभी उपाय केवल संकेत रूप में ही थे। इस प्रकार के संकेतों के लिये किसी विशेष शब्द के माध्यम की आवश्यकता नहीं रहती। यथा विभिन्न जातियों में 'युद्ध' का भाव भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा प्रकट किया जा सकता है, किन्तु लाल रंग समान रूप से सभी जातियों में 'युद्ध' का द्योतक हो सकता है। इस प्रकार के स्मृति-संकेतों में मिश्र देश के चित्र-संकेत अधिक सरल और भावपूर्ण थे। यथा दौड़ते हुए हरिण या बछड़े के पास पानी का चित्र प्यास के भाव का उद्बोधक हो सकता है। समय के साथ-साथ किन्तु धीरे-धीरे चित्र लिपि के ये चित्र-संकेत भी बदले। शीघ्रता से भाव प्रकट करने वाली प्रवृत्ति का प्रभाव चित्र-संकेतों पर भी पड़ा, और परिणाम यह हुआ कि शीघ्रता के कारण खराब खिंचे हुए चित्र अपने मूल रूप से दूर हट गये, उनमें भावों को उचित रूप से व्यक्त करने की शक्ति शिथिल पड़ गई। इस प्रकार ये बिगड़े हुए चित्र जो सार्वत्रिक संकेत थे, संकुचित हो गये। केवल इनके लेखक ही अब इनसे भाव समझ सकते थे कि जिससे लिपि का उद्देश्य सफल होना असंभव सा हो गया था। मनुष्य के भावों को वहन करने वाले ये भ्रष्ट चित्र-संकेत धीरे-धीरे कालक्रम से एक प्रकार के विशिष्ट ध्वनि-समूह का ज्ञान कराने लगे। इस कल्पना को चीनी-भाषा के एकाक्षर

ध्वन्यात्मक शब्दों का बल मिलता है। चीन में भी पहिले चित्र-लिपि का ही प्रचार था, और वहां की चित्रलिपि के बिगड़े हुए रूप ने ही एकाक्षरी ध्वनि-संकेत का रूप धारण कर लिया है। इस प्रकार के विवेचन से इस निर्णय पर पहुँचा जाता है कि लिपि के विकास- क्रम में पहिले सम्पूर्ण बात या वाक्य का ज्ञान कराने वाला एक चित्र; फिर इन चित्रों से विक-सित हुए उनके उद्‌बोधक संकेत एवं फिर इन संकेतों से अक्षर और अक्षरों से तब लिपि का उद्‌भासन हुआ है।

चीन में ईसा से २००० वर्ष पूर्व ही लिपि ने अक्षर रूप प्राप्त कर लिया था ऐसा पता चलता है। संसार में चीन व जापान के अतिरिक्त मेसोपोटेमिया में सुमेरी जाति ने भी लिपि के विकास में पर्याप्त प्रयत्न किया है। कहीं भी देखिये लिपि के विकास के मूल में चित्र का स्थान ही सर्वप्रथम सर्वत्र रहा मालूम पड़ता है। सुमेरी जाति के भावों के व्यक्ति करने में भी चित्र का ही प्राधान्य है। इस प्रकार के चित्र-सकेत जब सामी लोगों के हाथ पड़े तो उन्होंने इन्हे अक्षर रूप में परिणत करने का पहिला प्रयास किया। ईरानियों ने इन्हीं अक्षर-संकेतों को कील से लिखकर, प्रयोग, किया इसी से इन्हे कीलाक्षर संज्ञा भी दीगई है। कीला-क्षर लिपि का एक रूप दारा के पुरानेलेखों में, जिन्हें कीलाक्षर लेख कहते हैं, मिलता है।

यूरोप की लिपियाँ

वर्तमान यूरोप की सभो लिपियां ग्रीक लिपि से विकसित हुई हैं। ग्रीक लिपि के लेख थेरा द्वीप में ई० पू० ९ वीं शती तक के मिलते हैं। ग्रीक लिपि के वर्णों के नाम सामी हैं। सामी लिपि अक्षरात्मक थी और उसका विकास सुमेरी संकेतात्मक चित्रों से ही हुआ था अतः कह सकते हैं, ग्रीक लिपि के भी मूल

में सर्वप्रथम चित्र लिपि का ही हाथ रहा है। इसका दूसरा प्रमाण यह भी है कि रोम के उत्थान के पूर्व इटली की भाषा 'एत्रुस्कन' के लेख जिस लिपि में लिखे जाते थे वह लिपि भी एशियामाइनर से ही यहां आई थी कि जिस एशियामाइनर की लिपि का मूलरूप चित्रलिपि मय ही रहा था। पीछे इसी को 'रोमन लिपि' नाम दिया गया और अब यह लिपि इसी नाम से विख्यात भी है। आरंभ में रोमन लिपि में २३ वर्ण थे, बाद में २६ होगये जो अब तक वर्तमान हैं। यूरोप के उत्तरी प्रदेशों में 'रूनी' लिपि थी। इसका, कहते हैं, ग्रीक लिपि से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस लिपि के विषय में विवेचना करने पर पता चला है कि केल्टी की ओघ लिपि रूनी से ही निकली है, और इसका समय ५ वीं शती है। अर्मीनी लिपि के चौथी शती के लेख मिलते हैं, परन्तु, इस के लिये हमें दो मत प्राप्त हैं— (१) कोई-कोई इसे इरानी से सम्बन्धित कहते हैं एवं (२) कोई-कोई इसका सम्बन्ध ग्रीक-लिपि से जोड़ते हैं। वास्तव में यह लिपि सीरिया देश के 'सिदिर्ली' स्थान की लिपि है। यही लिपि उत्तरी प्रान्तों की प्रमुख लिपि थी। उत्तरी प्रांतों की लिपि होने के नाते इसका सम्बन्ध रूनी से भी पड़ जाता है। इस प्रकार संसार के लिपि-विकास के इतिहास में एक प्रकार की शृंखलता भी आजाती है, और सभी लिपियों का आधार चित्र लिपि ही रह जाती है कि जिससे लिपि के विद्यार्थी की बहुत सी अड़चन दूर होजाती है। अर्मीनी लिपि से ही हिब्रू व अरबी लिपियों का निकास हुआ है। अरबी लिपि के दो रूप हैं—(१) कुफ़ी और (२) नेस्खी।

भारतीय लिपियाँ

इस प्रकार संसार की दृष्टि से लिपि के विकास पर विचार कर चुकने पर भारत के लिपि-प्रश्न पर भी ध्यान देना आवश्यक

होजाता है। भारत संसार की सभ्यता की जन्मभूमि रहा है। वैसे मिश्र व चीन की सभ्यता भी भारत के ही समान अति प्राचीन हैं, परन्तु, फिर भी भारत की सभ्यता में अध्यात्म ज्ञान व विज्ञान का प्रामुख्य होने से बहुत कुछ अंशों में भारत ही विश्व गुरु रहा है। जिस प्रकार यहां की भाषा अति प्राचीन है, लिपि सिध्दान्त भी यहाँ का निराला ही रहा होगा। भारत की प्राचीनता पर कई बार परिवर्त्तनों का प्रवाह आया। यही कारण है इस देश की आदिम सभ्यता का असलीस्वरूप क्या था इसका पता चलाना संभव नहीं। इस देश के साहित्य, इसकी संस्कृति व सभ्यता में कई बार बदल हुए हैं अतः कहा नहीं जासकता कि लिपि के विषय में यहां का आदिम रूप क्या था? परन्तु, यहाँ आधुनिक दृष्टि से सर्व प्रथम लेख अशोक प्रियदर्शी के हैं। इन लेखों की लिपियां ब्राह्मी व खरोष्ठी हैं। खरोष्ठी
दर्शी के हैं। इन लेखों की लिपियाँ ब्राह्मी व खरोष्ठी हैं। खरोष्ठी
लिपि के लेख ई० पू० तीसरी शती के हैं। खरोष्ठी का रूप अर्मी से ही परिवर्तित सा प्रतीत होता है। यह विवेक करना कठिन है कि खरोष्ठी से अर्मी का कलेवर सम्पन्न हुआ, या अर्मी से खरोष्ठी का, परन्तु इतना स्पष्ट है कि लिपि विकास का सूत्र चाहे कहीं से चला हो है एक ही। ब्राह्मी लिपि से भारत की समस्त वर्त्तमान लिपियों का विकास हुआ है यह निर्विवाद है। खरोष्ठी लिपि यहां इस देश में पनपी नहीं इसी कारण ब्राह्मी का पंजा ऊँचा होता चलागया। खरोष्ठी के लिये ज्ञात हुआ है कि चीनी तुर्कीस्तान में भी यही लिपि चालू थी। खरोष्ठी को लेकर भिन्न-भिन्न विद्वानो ने भिन्न-भिन्न प्रकार से विचार किया है। श्री कनिंघम, ओझा और लेनेन इसे भारत की मौलिक उत्पत्ति मानते हैं।

भारतीय लिपि सामग्री

भारत में मोहन जोदड़ो और हडप्पा ईस्वी सन् से कई हजार वर्ष पुराने लेख मिले हैं। इन लेखों की लिपि ब्राह्मी और खरोष्ठी से भिन्न ही है। लोगों का कहना है ये लेख किसी ऐसी लिपि के हैं जिसका वैदिक सभ्यता से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। साथ ही हैदराबाद (दक्षिण) में १६१७ की खुदाई में मिट्टी के बर्तनों पर खुदे कुछ लेख मिले हैं। इनकी लिपि भी ब्राह्मी से भिन्न है। अशोक के लेखों से पहिले के एक-दो छोटे लेख बर्ली (अजमेर) में और दूसरा नैपाल की तराई में मिला है। इन लेखों की लिपि अशोक से पहिले संभवतः भारत में चलती रही हो।

भारत में लिपि ज्ञान की प्राचीनता

श्री ओझा का मत है, भारत में लिपिज्ञान के प्रमाण बहुत प्राचीन मिलते हैं। बौद्ध त्रिपिटक, ब्रह्मजाल सुत्त (सूत्र), छान्दोग्योपनिषद आदि में 'अक्षर' शब्द का प्रयोग मिलना। पणिनी की अष्टाध्यायी में 'लिपि' 'लिबि' शब्दों का मिलना आदि ऐसे उदाहरण है जिन से भारत के लिपि ज्ञान की प्राचीनता सिद्ध है। जो जाति व्याकरण का सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार कर सकती हो, जो जाति छन्दों का विश्लेषण कर सकती हो उसके यहाँ लेखन की कला न रही होगी यह बात असंभव सी प्रतीत होती है।

भारत में अंक लेखन

ऋग्वेद सब से प्राचीन पुस्तक है। इस में अष्टकर्णी गायों के दान का उल्लेख आया है। इससे सिद्ध है कि हमारे यहां गायों के कान पर आठ एवं अन्य संख्याओं के अङ्क अंकित रहते थे। इसके सिवा एक जुआरी की उक्ति मिलती है उसमें

'एक' शब्द आया है। इन प्रमाणों के बल पर कहा जासकता है, भारत का अङ्क ज्ञान संसार में बहुत प्राचीन है। ई० पू० चौथी शती में रुई से कागज़ बनाने तक का चलन यहाँ पर चालू था। इन सभी बातों से लिपि की प्राचीनता भारत में असंदिग्ध सिद्ध हो रही है।

(१) खरौष्ठी लिपि

भारत की मुख्य लिपियाँ:— (१) खरौष्ठी और (२) ब्राह्मी हैं। अशोक के शाहबाज़ गढ़ी के और मानसेरा के लेख खरौष्ठी में हैं। इस लिपि का एक-एक अक्षर ईरानी सिक्कों पर भी मिला है। अशोक के पीछे यह लिपि भारत में विदेशी राजाओं के सिक्कों पर ही मिलती है। यह लिपि दांई से बांई ओर लिखी जाती है; और पश्चिमोत्तर पंजाब की ओर ही अधिक प्रचार में रही है। इसका मेल अरमइक अक्षरों से निकट बैठता है। इससे सिद्ध है कि अरमी का ही रूपान्तर खरौष्ठी लिपि है।

(२) ब्राह्मी लिपि

इस लिपि में लेख देश में चौथी शती ई० पू० के मिलते हैं भारत की यही सर्वश्रेष्ठ लिपि है। जैनों के पन्नवणासूत्र में और समवायंग सूत्र में १८ लिपियों (बंगी, जवणालिया, दोसापुरिया, खरोष्ठी) आदि का उल्लेख है। ललितविस्तर ग्रन्थ में अङ्ग पङ्ग आदि ६४ लिपियों के नाम मिलते हैं, इनमें प्रथम ब्राह्मी और दूसरी खरौष्ठो है।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में दो मत हैं। एक मत तो इसे विदेशी देन कहता है, दूसरा इसे भारत की ही उपज मानता है। श्री विलसन प्रिसेप आदि इसे 'फोनेशी लिपि' से उत्पन्न मानते हैं। श्री डीके का विचार है यह असीरी कीलाक्षरों से उत्पन्न है। श्री वेबर बूलर व जोन्स 'सामी' से इसे

जोड़ते हैं। सामी से ब्राह्मी का सम्बन्ध जोड़ने में बूलर महोदय ने मनमानी अटकलें लगाने का वृथा श्रम किया है। हर तरह से विचार करने पर परिणाम यही निकलता है कि ब्राह्मीलिपि का सम्बन्ध ऊपर कही किसी लिपि से सम्बन्धित नहीं बल्कि यह स्वतन्त्र भारतीय आर्यों की अपनी निजी खोज है।

ब्राह्मी लिपि के नामकरण पर भिन्न-भिन्न मत

कुछ लोग कहते हैं ब्रह्म देवता ने इस लिपि को खोजा है इसी से इसका नाम ब्राह्मी लिपि है। किसी का कहना है कि ब्रह्मज्ञान की रक्षा इसी लिपि में की गई है इसी से इसका नाम ब्राह्मी लिपि प्रसिद्ध हो गया है। कुछ भी हो यह लिपि इसी देश की उपज है। डा० तारापुरवाला इसे हैदराबाद में पाये गये प्रागैतिहासिक युग के वर्तनों पर के संकेतों से उत्पन्न मानता है।

ब्राह्मी के दो प्रकार दिखाई देते हैं—(१) उत्तरी और (२) दक्षिणी। उत्तरी विन्ध्याचल के उत्तर में, और उसके दक्षिण में दक्षिणी रूप का प्रचार हुआ। ब्राह्मी के उत्तरी वर्ग में पांचाली लिपि का भी समावेश हो जाता है। इसके अतिरिक्त इसी वर्ग में—(१) गुप्त लिपि, (२) कुटिल लिपि, (३) नागरी लिपि, (४) शारदा लिपि, (५) बंगला लिपि आदि-आदि भी है।

(३) नागरी लिपि

नागरी लिपि में

१ कैथी | २ महाजनी | ३ गुजराती | ४ राजस्थानी | ५ नन्दगिरी (दक्षिण में उत्तर वर्ग की लिपि है)

ये पाँच लिपियां प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार ब्राह्मी के उत्तरी वर्ग में ही शारदा लिपि में भी निम्नलिखित तीन लिपियां प्रसिद्ध हैं :—

(४) शारदा लिपि

शारदा लिपि

काश्मीरी टक्करी गुरुमुखी
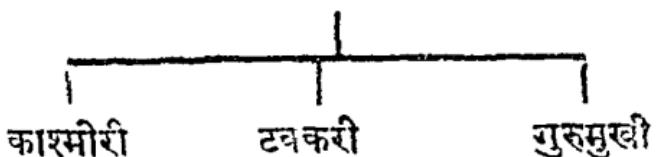
बंगला लिपि में भी, इसी प्रकार, तीन लिपियों का समावेश है :—
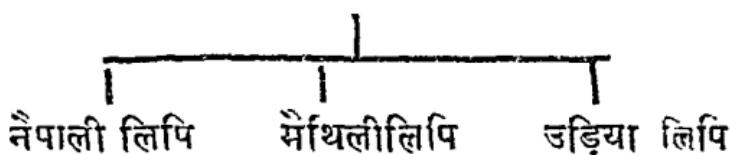
ब्राह्मी लिपि के दक्षिणी वर्ग में ६ लिपियां हैं। १—पश्चिमी, २—मध्यदेशी, ३—तेलंगू कन्नडी, ४—ग्रन्थ लिपि, ५—कलिंग लिपि और ६—तामिल लिपि। ये ६ लिपियां क्रमशः नीचे लिखे स्थानों पर चलती हैं :—

१—नासिक में, २-बुन्देलखण्ड में व हैदराबाद में, ३-बम्बई और हैदराबाद में, ४—मद्रास प्रान्त में, ५ व६ -कलिंग व तामिलनाड प्रान्तों में। अन्तिम तामिल लिपि से 'वट्टे लुत्तु' नाम की लिपि निकली है।

नागरी लिपि ६ वीं शती से प्रचलित है। आज के संस्कृत ग्रन्थ इसी लिपि में लिखे गये हैं। नैपाल की राज लिपि यही है

इस लिपि में उत्तरोत्तर विकास होता गया है। इसके अक्षर सुन्दर व भ्रम रहित होते हैं। वर्तमान नागरी में वर्णों का अंकन ध्वनियों के क्रम से होता है। केवल 'इ' मात्रा और रेफ़ अपवाद हैं। रेफ़ के (्र ् र ॅ) तीन चार रूप मिलते हैं इन त्रुटियों को हटाया जारहा है। वैसे यह लिपि उच्चारण की दृष्टि से पूर्ण वैज्ञानिक व सम्पूर्ण है।

नागरी का नाम करण

इस लिपि का नाम क्यों पड़ा इसका अभी निश्चय नही हो पाया है। कुछ लोग नागर ब्राह्मणों से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं, और कुछ लोग नागर अपभ्रंश से। पर बात यह है श्री श्याम शास्त्री कहते हैं- दक्षिण के नन्दि नगर से भी इसका सम्बन्ध हो सकता है। एकमत यह भी है कि देव सूर्तियों के बनने से पूर्व उनको उपासनायें सांकेतिक चिन्हों से होती थी जो त्रिकोण, षट्कोण आदि चक्रों में लिखे जाते थे। ये चक्र 'देवनगर' कहलाते थे। इन्हो देवनगरों में लिखें जाने वाले अक्षर देवनागरी के वर्ण कहलाये जाने लगे, और इसी से इस लिपि का नाम देवनागरी लिपि प्रसिद्ध हो गया है।

लिपि विकास पर एक अन्य मत

कुछ लोगों का मत है कि यूरोप की मूल लिपि ग्रीक स्वतंत्र नहीं, इसके मूल में फोनेशिया की फोनेशी लिपि है। फोनीशी व्यापारियों द्वारा यह लिपि यूरोपीय क्षेत्रों 'में' फैलाई गई थी। प्रमाण में जो बात कही जाती है वह यह हैं कि यूरोपीय भाषाओं में लिपि को 'अल्फाबेट' कहते हैं। इस शब्द के दो टुकड़े हैं— अल्फा+बेट इनके आरंभिक अक्षर 'ए' और 'बी' ग्रीक लिपि के ए और बी के जनक हैं, उधर 'अल्फबेट' सामी के 'अलिफ' व 'बे' से भी सम्बन्ध रख सकते हैं। सामी भाषा में तो इन शब्दों

के अर्थ भी हैं, परन्तु ग्रीक में इनका कोई अर्थ नहीं है। इससे सिद्ध है कि ग्रीक ने भी इनको सामी भाषा ही से लिया है। हर प्रकार से देखने पर अबतक मूल लिपि फोनेशी ठहरी है। फोनेशी का स्रोत भिन्न-भिन्न प्रकार से माना है। कोई इसे मिश्र के भावात्मक चित्र-संकेतों से जोड़ता है तो कोई बेबिल की कीलाक्षर-लिपि से, और कोई श्री क्रीट की मिनोआ लिपि से इसकी उत्पत्ति का नाता जोड़ता है। परन्तु, निर्णय यही होता है कि मिश्री, ग्रीक, फोनेशी, सुमेरी सभी लिपियां भूमध्यसागर के आस-पास के व्यापारियों के संकेतों से निकली हैं, और इन संकेतों के मूल में वही चित्र सर्वप्रथम आते हैं। चित्रों से भावात्मक संकेत और भावात्मक संकेतों से शब्द व अक्षरात्मक लिपि क्रमशः उत्पन्न हुई सिद्ध होती है।

[७]

ग्रिम नियम या जर्मन भाषाओं का प्रथमवर्ण परिवर्तन

साधारण ग्रिम नियम के अनुसार 'क् त्' और 'प्' (K, T औरP) का 'ह्' थ्' और 'फ्' या 'व' (H, IH, Forv) मे परिवर्तन हो जाता है। कही-कहीं संस्कृत 'क्' ध्वनि के स्थान में hw (= WH) की ध्वनि भी देखी जाती है। दोनों प्रकार के उदाहरण इस प्रकार हैं :—

(१)	(२)
संस्कृत—'कः'	संस्कृत—'त्रि'
लेटिन—'quod'	ग्री—'treis'
अंग्रेजी—'who'	लै—'tres'
	गाथिक—threis'
	रूसी—'tri'

(२)

सं—'पितृ' जर्मन—'वैटर'
लैटिन—'पैटर' डच—'वैडर' आदि-आदि
गाथिक—फ़ैडर

इसके अतिरिक्त, यह भी देखा जाता है कि जहाँ संस्कृत आदि में सघोष स्पर्श होते हैं अङ्गरेजी में वहाँ अघोष स्पर्श देखे जाते हैं। यथा—

सं०—'गो' अङ्गरेजी—'काऊ'
" 'द्वि' " 'टू' इत्यादि

परन्तु ग्रिम का यह ध्वनि नियम आज वैज्ञानिक नहीं माना जाता। इसका कारण यही है कि ग्रिम महाशय ने दो भिन्न २ कालों के ध्वनि विकारों को एक साथ रखकर अपना सूत्र बनाया था। ग्रिम ने जिन दो वर्णों के परिवर्तन का सम्बन्ध स्थिर किया है उनमें से दूसरे का क्षेत्र उतना बड़ा नहीं जितना वे समझते हैं। इस दूसरे परिवर्तन का सम्बन्ध केवल ट्यूटानिक भाषाओं ही से है आदिकालीन भारोपीय भाषाओं से नहीं। तीसरी बात यह है कि ग्रिम ने अपने नियम की उचित सीमाएँ भी निर्धारित नहीं की थीं। इन्हीं बातों को लेकर ग्रिम के अपवाद रूप में श्री ग्रासमान व हर्नर महोदय ने पीछे उपनियम बनाये हैं।

कुछ आवश्यक परिभाषाएं

डिङ्डैङ्वाद—यह भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध का एक मत है। श्री मैक्समूलर महोदय ने इसे निकाला था। उनका कहना है कि जैसे एक कांसी के बर्तन में ठेस लगने से दूसरे निकट वर्ती बर्तन में भी ध्वनि होती है, उसी प्रकार बाहरी दृश्यों से हृदय पर भी एक प्रकार का प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव के कारण जो शब्द मुख से निकल पड़ते हैं वे इसी वाद की देन

हैं। इस प्रकार जो शब्द बनते हैं उन्हीं से भाषा का कलेवर सम्पन्न होता है।

तारापुरवाला—ये एक पुरातत्वानुसंधायक वा लिपि विशेषज्ञ सज्जन हैं। दक्षिण हैदराबाद के पुराने पीतल के बर्तनों के चिह्नों से इन्होंने लिपि का श्री गणेश माना है।

जेकब ग्रिम—आप एक प्रसिद्ध भाषा विज्ञानी हैं। आपने आर्य परिवार व जर्मन तथा अन्य ट्यूटानिक परिवार की भाषाओं का अध्ययन करके कुछ ध्वनि नियम बनाये हैं। आपने जर्मन भाषा का व्याकरण भी लिखा है।

कीलाक्षर—एक लिप है जो दारा के लेखों में मिलती है। इसका आरंभ फोनीशी से माना जाता है। यह लिपि कील से ईंटों पर लिखी जाती थी इसीसे इसे कीलाक्षर लिपि कहते हैं।

अपनिहिती—का अर्थ है शब्द के मध्य में (इ) या (उ) का आगमन।

स्वर-संगति—का अर्थ है स्वर का एक भाग। इसी में पूर्व-हिती और अपनिहिती आ जाती है।

महाप्राण—वर्ग के दूसरे व चौथे अक्षर को कहते हैं।

भाषाओं पर टिप्पणी

सिंहली—यह मराठी के दक्षिण वर्ग की होने से बहिरंग भाषाओं में हैं

हिट्टाइट—यह एक राज्य का नाम है। इस राज्य का पता अभी ऐशिया—माइनर की खुदाई के समय लगा है। ईसा से १४,१५ शती पूर्व यह राज्य था। इसकी भाषा है 'हिट्टी'। यह भारोपीय परिवार की है।

हिब्रू—इब्रानी में वर्तमान हिब्रू का प्राचीन रूप मिलता है। इसी प्राचीन हिब्रू में ईसाइयों का प्राचीन विधान लिखा गया है। अर्माइक लैटिन, प्राचीन हिब्रू सबका इस पर प्रभाव है।

ब्राहुई—यह भाषा द्रविड़-परिवार की है पर कलात में बोली जाती है, कुछ लोग यहां सिन्धी बोलते हैं, आश्चर्य है यह भाषा यहां कैसे आई ?

ग्रीक—इस भाषा का प्राचीन रूप होमर की रचनाओं में है। यह संस्कृत से बहुत मिलती है। इसके चार रूप हैं :—

१—होमरिक

२—साहित्यिक

और ३—मध्यकालीन व आधुनिक।

(उ)

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति

हिंन्दी भापा की ऐतिहासिक-शृंखला का अनुसंधान कई विद्वानों ने कई प्रकार से किया है। प्रकृति व पालि के आगे-पीछे के क्रम में तथा अपभ्रंशों के हिन्दी से सम्वन्ध जोड़ने में भिन्न २ मत भिन्न २ प्रकार से हैं। हम यहां एक वंश-वृक्ष देकर अपने मत का उल्लेख कर रहे हैं। आशा है भाषा-शास्त्र के छात्र को इस वंश-वृक्ष से हिन्दी की ऐतिहासिक-शृंखला सरलता से समझ में आ जायगी :—

वंश वृक्ष

अगले पृष्ठ पर देखिये
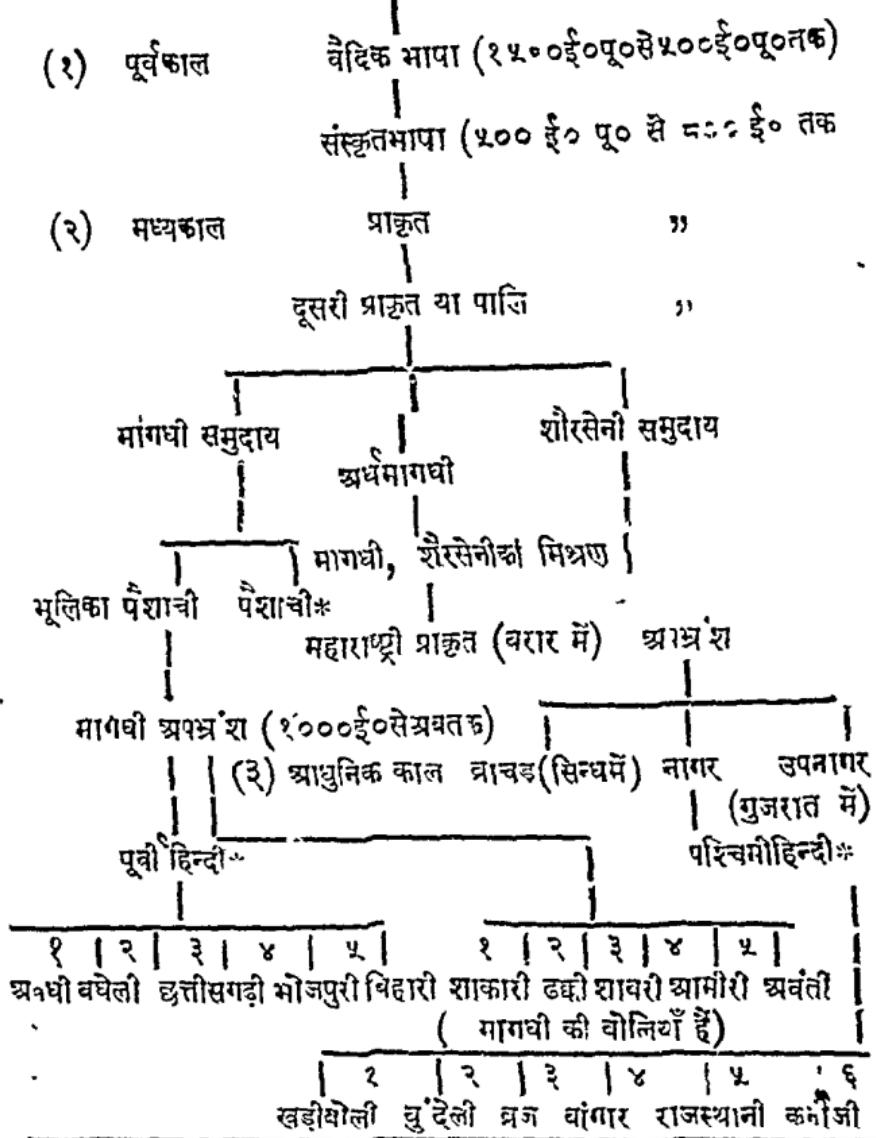
* संभवतः दर्दी की मांता या माता यही पैशाची रही होगी।

* राजस्थानी पर नागर अपभ्रंश का प्रभाव अधिक पड़ा है। गुजरात व राजस्थान पड़ोसी-पड़ोसी प्रान्त हैं।

* पूर्वी व पश्चिमी हिन्दी, हिन्दी है उसी नाते सभी बोलियों की गणना हिन्दी वर्ग में ही की जाती है, चाहे वे पूर्वी की बोलियाँ हों चाहे पश्चिमी की।

(ध्वनि-समूह)

१: प्राकृति-ध्वनि समूह

पालि और प्राकृतों का ध्वनि समूह प्रायः समान ही है। स्वर और व्यंजन दोनों ही ध्वनियाँ प्रायः दोनों में समान ही हैं। शोरसेनी प्राकृत और पालि के ध्वनि समूह में कोई अन्तर नहीं। पाली की ड़ ढ़ ध्वनियाँ शोरसेनो में भी हैं। परन्तु, पालि के न और य शोरसेनो में नहीं। प्राकृत में पालि की न् और 'य' ध्वनि के स्थान में ण और ज हो जाते हैं।

२: पालि ध्वनिसमूह*

पालि में दस स्वर ये हैं :— अ,आ,इ,ई,उ,ऊ,ए,ऐ,ओ,औ ऋ,ॠ,ऌ,ॡ का इस भाषा में सर्वथा अभाव है। 'ऋ' के स्थान में 'अ'इ' अथवा 'उ' का प्रयोग होता है। 'ऐ,'औ' के स्थान में 'ए,'ओ' हो जाता है। संयुक्त व्यंजनों के पूर्व ह्रस्व 'ए,'ओ' भी मिलते हैं। वैदिक संस्कृत की किसी-किसी विभाषा से ह्रस्व 'ऐ, 'ओ' की ध्वनियां मिलती थी पर परवर्ती संस्कृत में इनका सर्वथा अभाव है। पालि की ये ह्रस्व 'ऐ,'औ' वाली ध्वनियाँ, प्राकृत व अपभ्रंशों में होती हुई हिन्दी तक में पहुँची हैं।

३: अपभ्रंश का ध्वनिसमूह

अपभ्रंशों में कोई विशेष ध्वनि परिवर्तन नहीं हुआ। शौर-सेनी अपभ्रंश ध्वनियां वे ही हैं जो पालि में पाई जाती हैं। अप-भ्रंशो में १० स्वर और ३७ व्यंजन ध्वनियां पाई गई हैं।

४: हिन्दी ध्वनि-समूह

अपभ्रंश की १० स्वर और ३७ व्यञ्जन ध्वनियां हिन्दी

---

* दूसरी प्राकृत भी इसी का नाम है।

में भी मिलती हैं। इसके अतिरिक्त 'ऐ' (अए) और ओर 'औ' (अओ) इन दो संध्यक्षरों का विकास भी पुरानी हिन्दी में पाया जाता है। आधुनिक हिन्दी में कुछ व्यंजन ध्वनियों की वृद्धि हुई है। यथा– क़,ख़,ग़,ज़,फ़, आ,'श' आदि की ध्वनियाँ। ऋ,ष्,ञ ये तीन ध्वनियां हिन्दी में संस्कृत तत्सम शब्दों में प्रयुक्त होती हैं।

५: रूप

हिन्दी विभक्ति प्रधान भाषा है। संज्ञा, सर्वनाम व क्रियाओं में ही हिन्दी में विभक्तियों का विचार होता है।

हिन्दी का विस्तार,मूलअर्थ, शास्त्रीय, अर्थ व विभाषाएं।

भारत के सिंधु सिंध और सिंधी के ही दूसरे रूप हिन्दु-हिन्द व हिन्दी माने जाते है। सिन्ध एक देश सिन्धु एक नदी व सिन्धी उस देश के-निवासी को कहते हैं, वैसे ही-फारसी से आये हुए हिन्दु, हिन्द व हिन्दी के अर्थ क्रमशः एक जाति, एक देश व एक भाषा होते हैं।

प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से हिन्दवी या हिन्दी शब्द फ़ारसी भाषा का है। इसका अर्थ 'हिन्द का' होता है। अतः यह फारसी ग्रन्थो में हिन्द देश के वासी व भाषा दोनों अर्थ में आता है। जैसे पंजाब का रहने वाला आदमी अपने को भारतवासी न कह कर 'हिन्दी' कहता है। हिन्दी भाषा का क्षेत्र बड़ा विशाल है। इस क्षेत्र की सीमा यह है:— पश्चिम में जैसे जैसलमे, उत्तर पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नैपाल के पूर्वी छोर तक, दक्षिणी-पूर्व में रामपुर तथा दक्षिण पश्चिम में खंडवा तक इस भूभाग के निवासियों के लिखने-पढ़ने की शिक्षा-दीक्षा की व बोल-चाल, पत्र पत्रिका तथा व्यवहार की भापा हिन्दी है।

इस दृष्टि से **बिहारी** (भोजपुरी,मगही व मैथिली) **राजस्थानी** (मारवाडी, मेवाती हाड़ोती) **पूर्वी हिन्दी** (अवधी, बघेली छत्तीस गढ़ी) पहाड़ी आदि सब हिन्दी की विभाषएँ मानी जाती हैं, और १७ करोड़ उसके बोलने वालों की संख्या। पर भाषा-शास्त्र की दृष्टि से हिन्दी खण्ड में तीन चार भाषाएँ हैं– राजस्थानी, बिहारी, पहाड़ी आदि पृथक भाषाएँ मानी जाती हैं। इस तरह हिंदी केवल मध्य देश की भाषा रह जाती है। आधुनिक विद्वान् पश्चिमी हिन्दी को ही हिन्दी मानते हैं व पूर्वी हिन्दी को पृथक भाषा। हिन्दी शौरसेनी की वंशजा है, और पूर्वी हिन्दी अर्ध मागधी की। इसी से ग्रियर्सन व चटर्जी ने **पश्चिमी हिन्दी** को ही हिंन्दी शब्द से व्यवहार किया है, और उसकी विभाषा या बोलियां पाँच मानी हैं। १ ब्रज, २ कन्नौजी, ३ बुंदेली ४ बांगरू, और ५ खड़ीबोली।

१: खड़ी बोली

आज राष्ट्रभाषा है। साहित्य व व्यवहार सभी में उसका बोल-बाला है। ब्रज, अवधी आदि अन्य साहित्यिक भाषाओं से भेद दिखाने को लोग आधुनिक साहित्यिक हिन्दी को खड़ी बोली कहते हैं। यह बोली रामपुर,मुरादाबाद,बिजनौर,मेरठ,मुजफ्फर नगर,सहारनपुर,देहरादून,अम्बाला तथा कलसिया और पटियाला के पूर्वी भागों में बोली जाती है इसमें फारसी के शब्दों का व्यवहार अधिक होता है। ५३ लाख इस भाषा के बोलने वाले हैं। इसका जन्म शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। और कुछ पंजाबी का भी इस पर प्रभाव है।

बाँगरू– यह पंजाब के दक्षिण पश्चिम में बांगरू प्रान्त की भाषा है रोहतक,झींद,हिसार, नाभा आदि की ग्रामीण बोली

गही है। इसमें पंजाबी, राजस्थानी व खड़ी बोली तीनों की खिचड़ी है। इसके बोलने वाले २२ लाख हैं।

व्रजभाषा—यह व्रजमण्डल की बोली है। मथुरा, आगरा, भरतपुर, धौलपुर, अलीगढ़ में बोली जाती है। इसका साहित्य प्रचुर है। इसके बोलने वाले ८६ लाख हैं।

कन्नौजी—गंगा के मध्य दोआव में बोली जाती है। साहित्यिक कन्नौजी और व्रजभाषा में कोई अन्तर नहीं है।

बुन्देली—यह बुन्देलखण्ड प्रान्त की भाषा है। व्रज के दक्षिण में झांसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओरछा सागर, नरसिहपुर, सिवनी तथा होशंगाबाद में बोली जाती है। इसके कई मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी आदि में मिलते हैं। ६६ लाख इसके बोलने वाले हैं।

मध्यवर्ती भाषाओं में वे भाषायें आती हैं जो बहिरङ्ग, भाषाओं के बीच की कड़ी हैं। जैसे पूर्वी हिन्दी-यह भाषा बहिरङ्ग व अन्तरङ्ग भाषाओं की कड़ी है। ये भाषाएं सात हैं। पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी पहाड़ी, केन्द्रिय पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी और पूर्वी हिन्दी।

हिन्दी की आकृति व्यवहिति प्रधान है। बहिरंग भाषाओं में संहिति व व्यवहिति दोनों का मिश्रण पाया जाता है।

बहिरंग भाषाएं—सिन्धी, मराठी, बिहारी, उड़िया, बंगाली आसामी व **अनिश्चित परिवार** की भाषाएँ—जैसे अन्दमानी, कारेन आदि २ हैं।

गही है। इसमें पंजावी, राजस्थानो व खड़ी वोली तीनों की खिचड़ी है। इसके वोलने वाले २२ लाख हैं।

व्रजभाषा—यह व्रजमण्डल को वोली है। मथुरा, आगरा, भरतपुर, धौलपुर, अलीगढ़ में वोली जाती है। इसंका साहित्य प्रचुर है। इसके वोलने वाले ८६ लाख हैं।

कन्नौजी—गंगा के मध्य दोआव में वोली जाती है। साहित्यिक कन्नौजी और व्रजभापा में कोई अन्तर नहीं है।

वुन्देली—यह वुन्देलखण्ड प्रान्त की भापा है। व्रज के दक्षिण में झांसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओरछा सागर, नरसिंहपुर, सिवनी तथा होशंगावाद में वोली जाती है। इसके कई मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी आदि में मिलते हैं। ६६ लाख इसके वोलने वाले हैं।

मध्यवर्ती भापाओं में वे भापायें आती हैं जो वहिरङ्ग, भापाओं के वीच की कड़ी हैं। जैसे पूर्वी हिन्दी-यह भापा वहिरङ्ग व अन्तरङ्ग भापाओं की कड़ी है। ये भापाएं सात हैं। पंजावी, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी पहाड़ी, केन्द्रिय पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी और पूर्वी हिन्दी।

हिन्दी की आकृति व्यवहिति प्रधान है। वहिरंग भापाओं में संहिति व व्यवहिति दोनों का मिश्रण पाया जाता है।

वहिरंग भाषाएं—सिन्धी, मराठी, विहारी, उड़िया, वंगाली आसामी व **अनिश्चित परिवार** की भाषाएँ—जैसे अन्दमानी, कारेन आदि २ हैं।

हिन्दी का शब्द समूह

हिन्दी में कई जीवित व मृत भाषाओं के शब्द हैं। साधारणतः हिन्दी शब्द-समूह को पांच भागों में बाँटा जा सकता है—

क—तत्सम

ख—तद्भव

ग—अर्धतत्सम

और घ—देशज एवम्

ङ—विदेशी

तत्सम—वे शब्द हैं जो अपने शुद्ध संस्कृत रूप में व्यवहृत होते हैं। साहित्यिक हिन्दी में इनका अधिक प्रयोग होता है। आजकल इन्हीं शब्दों का प्रचार बढ़ रहा है। भाषा में नवीन-नवीन भावों को अभिव्यक्त करने के लिये इस युग में तत्सम शब्द ही बढ़े हैं।

तद्भव—वे शब्द हैं जो संस्कृत से प्राकृत, पालि व अपभ्रंश से होते हुए विकृत होकर हिन्दी में आये हैं। हिन्दी में ऐसे ही शब्दों का बाहुल्य है। यथा—

तत्सम	तद्भव
कृष्ण	कान्ह, कन्हैया, कान्हा
वत्स	बच्छ, बछड़ा, बाछड़ा, बछया, बच्चा इत्यादि।

अर्ध तत्सम—वे शब्द हैं जो संस्कृत से आधुनिक काल में ही विकृत होकर मध्यकालीन भाषाओं में न आकर सीधे हिन्दी में ही आ गए हैं। यथा—

संस्कृत	हिन्दी
कृष्ण	किशन

देशज वे शब्द हैं जो अनार्य भाषाओं से तत्कालीन आर्य भाषाओं में आमिले हैं। यथा—द्राविड़, तामिल, तेलगू और मुण्डा भाषाओं के शब्द।

विदेशी शब्दों में तीन प्रकार के शब्द चल रहे हैं:—

१—अँग्रेजी
२—फारसी
व ३—अरबी

अंग्रेजी शब्द यथा—लालटेन (Lantern)
स्टेशन (Station)
स्लेट (Slate)
पैन्सिल (Pencil)
टाइम (Time)

फारसी शब्द यथा—हफ्ता (सप्ताह)
सिपाही (सैनिक)
उस्ताद (अध्यापक)

अरबी शब्द यथा—काग़ज़ (कागद)
कुलह (टोपी)
अक़ल
किताब (पुस्तक)
क़वायद (नियम) आदि २।

हिन्दी की कुछ अन्य बोलियाँ *

(अवधी बघेली, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी आदि)

अवधी:—हरदोई जिले को छोड़कर अवधी शेष अवध की भाषा है यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फैजाबाद आदि जिलों में बोली जाती है। इनके अतिरिक्त दक्षिण

* ये पूर्वी हिन्दी से अभिन्न सम्बन्ध रखती हैं।

जिलों में गंगापार इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर, और मिर्जापुर में बोली जाती है। इसके बोलने वाले १ करोड़ ४२ लाख हैं। ब्रजभाषा के साथ २ इसमें भी साहित्य पनपा है यद्यपि यह ब्रजभाषा--प्रतिद्वन्द्वीपन में यह ठहर न सकी।

बघेली:—अवधी के दक्षिण में इसका क्षेत्र है। इसका क्षेत्र रीवाँ राज्य है, किन्तु यह मध्य प्रान्त जबलपुर, माँडला तथा बालाघाट के जिलों तक फैली है। ४६ लाख वक्ता है। यहाँ के कवियों ने अवधी का ही आदर किया है।

छत्तीसगढ़ी:—इसे लरिया या खल्ताही भी कहते हैं यह मध्य प्रान्त में रामपुर और बिलासपुर के जिलों में बोली जाती है। रामगढ़, कोरिया, उदयपुर तथा जशपुर आदि राज्यों में बोली जाती है। ३३ लाख के करीब वक्ता हैं। मिश्रत रूपोंको मिलाकर करीव ३८ लाख है। कोई पुराना साहित्य नहीं मिलता है। कुछ नई बाजारू पुस्तकें अवश्य मलती हैं।

भोजपुरी:—बिहार के शाहबाद के जिले में भोजपुर एक छोटा सा परगना और कस्बा है, इस बोली का नाम इसी स्थान के नाम से पड़ा है। यद्यपि यह दूर २ तक बोली जाती है। यह बनारस, मिर्जापुर, जौनपुर गोरखपुर. बस्ती, आजमगढ़ शाहाबाद आदि में बोली जाती है वक्ता दो करोड़ हैं। बनारस में इसके रहते हुए कवि ब्रज आदि भाषाओं को ही अपनाते हैं।

हिन्दी का आधुनिक रूप

(क) भाषा की दृष्टि से

आधुनिक हिन्दी में कारक के चिन्ह विभक्ति से पृथक हैं। विलायती मत कहकर हम इसका निराकार नहीं कर सकते इसका स्पष्ट-प्रमाण खड़ी बोली के सम्बन्ध कारक के सर्वनाम

में मिलता है। जैसे, किसका =सं० कस्य = प्रा० पुं० किस्स + कारक चिन्ह का। काव्यों की पुरानी हिन्दी में सम्बन्ध की 'हि' विभक्ति (माग० 'ह' अप 'हो') सब कारकों का काम देजाती है। अवधो में अब भी सर्वनाम में कारण चिन्ह लगने के पहले यह 'हि' आता है। जैसे–'कहि का' पुराना रूप 'कोह, कहँ' 'केहि कर' यद्यपि बोल चाल में अब यह 'हि' निकलता जा रहा है। ब्रजभाषा से इस 'हि' को उड़े बहुत दिन हो गए। उसमें 'काहि को' जाहि को आदि के स्थान पर 'काको' 'जाको' आदि का प्रयोग बहुत दिनों से होता है यह उस भाषा के अधिक चलतेपन का प्रमाण है। आधुनिक हिन्दी में सर्वनामों जैसे-मुझे तुझे मेरा, तुम्हारा हमारा को छोड़कर विभक्ति से मिले हुए सिद्ध रूप व्यक्त नहीं है, पर अवधी और ब्रजभाषा में है। जैसे-पुराने रूप 'रामहिं' 'बनहिं' 'घरहिं' नए रूप 'रामै' 'बनै' घरै' (अर्थात राम को, बनको घरको) अवधी या पूरबी—"घरै"—घर में इत्यादि। इस प्रकार आज हिन्दी का कलेवर पूर्ण विकसित हो चुका है। इसमें अब लाक्षणिकता आ गई है। रहस्यवाद छायावाद की भावनाओं ने हिन्दी की अभिव्यञ्जना शक्ति को बहुत उर्वर कर दिया है। अब हिन्दी में भाषा शैथिल्य नहीं है उपर्युक्त पंक्तियों में कारक चिन्हों के निदर्शन द्वारा उसके क्रमिक विकास पर ही थोड़ा सा प्रकाश डाला गया है। अन्य अंशों में भी विकास का यही क्रम हिन्दी को प्रौढ़ बना चुका है। रूप की दृष्टि के विकास के साथ २ आज हिन्दी में भावात्मक विकास भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है।

ख—भावकी की दृष्टि से

आधुनिक युग हिन्दी साहित्य में प्रवृत्तियों का संकुल युग है। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, सभी क्षेत्रों में नूतन

प्रवृत्तियों का पर्याप्त प्रभाव है। सर्वप्रथम आधुनिक युग के पिता स्वर्गीय श्री भारतेन्दु बाबू को हिन्दी साहित्य की नूतन प्रवृत्तियों का प्रेरक कह सकते हैं। यद्यपि उनका प्रेरणाओं के मूल में तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियां ही कारण हैं, तथापि हमारे आधुनिक साहित्य को राष्ट्रीय विचारों की प्रेरणा मिली, भारतेन्दु जी से ही है। अंग्रेजों द्वारा भारत का पैसा बाहर जाते देख उन्हीं को खेद हुआ है। भाषा, भाव और शैली तीनों क्षेत्रों में इनका प्रभाव पड़ा, परन्तु जितना भावों पर पड़ा उतना भाषा व शैली पर नहीं। इनके पीछे चौधरी व द्विवेदी जी द्वारा भी हमें साहित्यिक उत्तेजनाओं के साथ साथ राष्ट्रीय भावनाएँ मिली हैं। स्वतन्त्रता की झलक इस समय प्रत्येक साहित्यकार की रचनाओं में झलकने लगी थी। श्रीधर पाठक का देश प्रेम उनकी काश्मीर-सुषमा में देखने योग्य है। जहां आपने कविता में स्वच्छंदतावाद को जन्म दिया वहां देश की स्वच्छन्दता का विचार और भी दृढ़ हो चला। हरिऔधजी को भी हम हिन्दी साहित्य की प्रेरक शक्तियों में ऊंचा स्थान दिये बिना नहीं रह सकते हैं। यहां आते आते लोक सेवा का भाव देश के समक्ष महत्व प्राप्त कर लेता है। प्रिय प्रवास के श्री कृष्ण-राधा का चरित्र दृष्टव्य है।

बा० मैथिलीशरण गुप्त के पास आकर तो हम राष्ट्रीय भावनाओं का स्रोत सा उमड़ा देखते हैं। 'भारत-भारती' को जिसने पढ़ा है उसे विश्वास हो जाता है कि देश की राष्ट्रीय आन्दोलन भावना उसके अक्षर अक्षर से प्रतिबिम्बित है। पुनः रामचरित उपाध्याय की 'राष्ट्र भारती' व 'भारत-भक्ति' देख कर कौन कह सकता है कि राष्ट्रीय क्षेत्र की ये रचनाएँ अमूल्य वस्तुएं नहीं। प० नाथूराम शंकर शर्मा की प्रेरणा से देशोद्धार की बाधक सामाजिक रूढ़ियों को उखाड़ फेकने की ओर लोगों का ध्यान

गया। अब तक लोग देश की अवनति का कारण बाहर खोजते थे अब भीतर अपने घर में भी खोजने लगे। त्रिपाठी जी ने तो पथिक लिखकर आधुनिक राष्ट्रीय भावनाओं का प्रतिबिम्ब ही नहीं, जीवित चित्र खड़ा कर दिया। स्वदेश-भक्ति की जो भावना भारतेन्दुजी के समय से चली थी उसे सुन्दर कल्पना द्वारा आकर्षक रूप त्रिपाठी जी ने ही तो प्रदान किया। देश भक्ति का यह भाव उनके पात्रों को कई क्षेत्रों में सौंदर्य प्रदान करता दिखाई पड़ता है। ये सौंदर्य कर्मक्षेत्र व प्रेमक्षेत्र दोनों में है। आपके काव्य में प्राकृतिक वर्णन में भी विशेषताएँ हैं। पाठकजी के पीछे प्रकृति-वर्णन की पद्धति का शोधन आप ही ने किया है। यहाँ आकर त्रिपाठीजी ने हमारे साहित्य को राष्ट्रभक्ति के प्रकृत पथ पर खड़ा कर दिया है। इसके पीछे व्यक्तिगत वीरता और शौर्य को लालाजी ने स्फुरण दिया। वियोगी हरि आदि से भी इस ओर थोड़ी बहुत प्रेरणाएँ मिली हैं। तृतीयोत्थान के साथ साथ इधर राष्ट्रीय आन्दोलन का क्रियात्मक क्षेत्र भी चेत उठा। अब तो साहित्य की सारी शक्तियाँ इसी ओर टूट सी पड़ी हैं।